ाजिक समस्याएँ और विघटन
CIAL PROBLEMS & DISORGANIZATION)

लेखक

रांगेय राघव
एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रो० श्याम शर्मा
समाजशास्त्र-विभाग
राजऋषि कालेज, अलवर

विनोद पुस्तक मन्दिर

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक मे सामाजिक विघटन के अनेक रूपो और कारणों की व्याख्या की गई है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण समाज की समस्याओ की वैज्ञानिक व्याख्या करने की चेष्टा करता है। हमारे समाज मे प्रतिदिन परिवर्तन होते हैं। उनमे हमारे जीवन मूल्यो (Values) में एक हलचल मच रही है। आज के युग मे तो बहुत ही बडे-बडे परिवर्त्तन हो रहे हैं। परिवर्तन किसी भी क्षेत्र मे क्यो न हो, उसका समाज पर प्रभाव अवश्य पडता है। प्रस्तुत पुस्तक मे इन सब विषयो पर विचार किया गया है। प्रसिद्ध समाजशास्त्रियो के मतो को एकत्र किया गया है।

इस दृष्टि से पुस्तक न केवल विद्यार्थियो के लिये उपादेय है, वरन् साधारण पाठको के लिये भी इसका महत्त्व है, क्योंकि समस्याएँ तो सभी के लिये हैं।

—रांगेय राघव
—श्याम शर्मा

विषय-सूची

अध्याय

अध्याय १

सामाजिक संगठन

(Social Organization)

संगठन ही समाज का आधार है। संगठन के अभाव में समाज डगमगाने लगता है जिसका अन्तिम परिणाम होता है—सामाजिक विघटन। यहीं पर यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि सामाजिक संगठन या सामाजिक विघटन अपने आप में बहुधा पूर्ण नहीं होते। न तो समाज में संगठन ही अपनी पूर्णता में रह पाता है और न ही विघटन। दोनों में से कोई भी निरपेक्ष नहीं—दोनों ही सापेक्ष हैं। अन्तर केवल मात्रा का होता है। एक समय यदि संगठन बलवान बना होता है तो दूसरे समय विघटन।

सामाजिक संगठन क्या है ?

इसके पहले कि हम आगे बढ़ें यह जान लेना परमावश्यक है कि आखिर सामाजिक संगठन है क्या। ये दो शब्द हैं—एक है सामाजिक और दूसरा है संगठन। अब इनका पृथक्-पृथक् अर्थ देखते हुए पहले हम सामाजिक शब्द को लेते हैं। समाजशास्त्रीय शब्दकोष के अनुसार सामाजिक शब्द मानसिक सम्बन्धों की ओर निर्देश करता है। सम्बन्ध दो वस्तुओं की स्थिति को कहते हैं। यहाँ मानसिक सम्बन्धों का तात्पर्य मानव जाति के बीच रहने वाले सम्बन्धों की ओर है। अधिक स्पष्ट करते हुए हम सामाजिक शब्द अर्थात् सामाजिक सम्बन्ध के अर्थ को उसके तत्त्वों का विश्लेषण करके देख सकते हैं। इसके लिये तीन बातें आवश्यक हैं जो क्रमश ये है—प्रथम दो वस्तुओं की स्थिति, द्वितीय समानता (commonness) और तृतीय चेतना (consciousness)। अब मानव जाति में समानता है और साथ ही उन्हें इस बात की चेतना भी है। अतः दो या दो से अधिक मनुष्यों की अपनी स्थिति जिसकी कि एक दूसरे को चेतना है सामाजिक सम्बन्ध कहलायेगी। फिर यह तो एक

माना हुआ तथ्य है कि समाज सामाजिक सम्बन्धों का ही योग है। उससे कम या अधिक कुछ भी नही। इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि सामाजिक का अर्थ होता है मानव जाति के सम्बन्धों का जाल।

अब हम सगठन शब्द का अर्थ भी देखते हैं। लैपियर (Lapier) महोदय के अनुसार "सगठन कार्यात्मक सन्तुलन की ऊँची मात्रा की ओर सकेत करने वाला समझा जाता है।"[1] फिर ऑगबर्न एव निमकॉफ (Ogburn & Nimkoff) के शब्दो मे "सगठन किसी कार्य को कराने की प्रभावशाली सामूहिक विधि है।"[2] अस्तु हम इन दोनो के विचारो को मिला कर कह सकते हैं कि सगठन उन सन्तुलित कार्यात्मक सम्बन्धो को कहते हैं जो किसी लक्ष्य या किन्ही कार्यों की पूर्ति के लिये प्रभावपूर्ण युक्ति के रूप मे स्पष्ट होते हैं।

अब सामाजिक और सगठन दोनो शब्दो के पृथक्-पृथक् विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते हैं कि सामाजिक सम्बन्धो के कार्यात्मक सन्तुलन की वाञ्छनीय स्थिति जो आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये होती है, ही सामाजिक सगठन कहलाती है।

आगे इस सम्बन्ध मे हम विभिन्न विद्वानो के भी मत देखते हैं। एक विचारक के मत मे "समाज मे विभिन्न तत्वो की व्यवस्थित सक्रियता ही सामाजिक सगठन का लक्षण है।"[3] इसी प्रकार लम्ले (Lumley) महोदय के अनुसार "सामाजिक सगठन वह समष्टि है जो सहयोग करने वाले विशेषीकृत अगो से मिलकर बनती है।"[4] इतना ही नही जोन्स (Jones) महोदय के शब्दो मे "सामाजिक सगठन वह व्यवस्था है जिसमे कि समाज के अग एक दूसरे से सम्बन्धित हैं और एक अर्थपूर्ण ढग मे सम्पूर्ण समाज से भी सम्बन्धित

---

1. "Organization is taken to indicate a high degree of functional equilibrium." —*Lapier*

2. "Organization is an effective group device for getting something done." —*Ogburn & Nimkoff*

3 "Social organization is characterized by harmonius operation of the different elements in a society."

4. "Social organization is a whole composed of co-operating specialized parts. ..." —*Lumley*

है।"[1] इसी प्रकार ईलियट एवं मेरिल ने भी कहा है कि "सामाजिक संगठन वह दशा या स्थिति है जिसमें एक समाज में विभिन्न संस्थाएँ अपने पूर्वनिश्चित अथवा अपेक्षित उद्देश्यों के अनुसार कार्य करती है।"[2]

इस प्रकार इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजिक संगठन समाज की वह स्थिति है जिसमें समाज का प्रत्येक अंग ठीक ढंग से एवं सहयोगात्मक रूप से अपने अपेक्षित कार्य को पूर्ण करता है।

सामाजिक संगठन के आवश्यक तत्त्व

(१) संरचनात्मक संगठन (Structural Organization)—संरचनात्मक संगठन को देखने के पूर्व हमें सामाजिक संरचना का सही रूप समझ लेना अभीष्ट है। पारसन्स (Parsons) महोदय के अनुसार 'सामजिक संरचना अन्तः सम्बन्धित संस्थाओं, ऐजेन्सियों और सामाजिक प्रतिमानों तथा समूह में उसके प्रत्येक सदस्य द्वारा प्राप्त पदों और भूमिकाओं की विशिष्ट व्यवस्था को कहा जाता है।"[3] अब इस परिभाषा का विश्लेषण करने पर सामाजिक संरचना की धारणा स्पष्ट हो जायेगी। सामाजिक संरचना का पहला तत्त्व है संस्था। संस्था किसी भी आवश्यकता की पूर्ति के लिये एक समाज स्वीकृत विशिष्ट व्यवहार प्रणाली को कहते हैं। इस प्रकार आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति के लिये आर्थिक संस्थाएँ होती हैं, सामाजिक के लिये पारिवारिक एवं सामाजिक तथा राजनैतिक के लिये राजनैतिक। साथ ही यह भी ध्यान रखना होगा कि क्योंकि आवश्यकताएँ एक ही स्रोत से आने के कारण सम्बन्धित

---

1. "Social organization & the system by which the parts of society are related to each other & to the whole society in a meaningful way" —*Jones*

2. "Social organization is a state of being a condition in which the various institutions in a society are functioning in accordance with their recognized, or implied purposes." —*Elliot & Merril*

3. "Social structure is the term applied to the particular arrangement of the interrelated institutions, agencies, and social patterns, as well as the statuses & roles which each person assumes in the group." —*Talcot Parsons*

होती हैं, इसीलिये संस्थाएँ भी परस्पर में अन्त सम्बन्धित होती हैं। फिर ऐजेन्सी और सामाजिक प्रतिमान शब्द भी इन्हीं से सम्बन्धित हैं।

आगे आते हैं पद और भूमिका। राल्फ लिन्टन (Ralf Linton) महोदय ने पद (status) को परिभाषित करते हुए कहा है कि "वह स्थान (place) जिसे एक विशेष व्यवस्था (system) में कोई व्यक्ति एक समय प्राप्त करता है उस व्यवस्था के अन्तर्गत वह उस व्यक्ति का पद (status) कहलायेगा।" बहुधा स्थिति (position) शब्द का प्रयोग भी इसी अर्थ में किया जाता है। लिन्टन (Linton) और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं, "उस व्यक्ति से जो इसको प्राप्त कर सकता है अलग कर लेने पर एक पद अधिकारों एवं कर्तव्यों का सकलन मात्र है।" आगे हम ईलियट एवं मेरिल (Elliot & Merril) के शब्दों में इसे विशेष रूप से स्पष्ट कर सकते हैं। उनके अनुसार "एक व्यक्ति का पद उसकी वह स्थिति है जो समूह में अपने लिङ्ग, आयु, जन्म, विवाह, शारीरिक योग्यताएँ, निष्पत्ति एवं तत्सम्बन्धित कर्तव्यों के कारण धारण करता है।"[1] आगे भूमिका (role) रयूटर (Reuter) के अनुसार किसी भी सामाजिक स्थिति अथवा समूह में व्यक्ति के द्वारा अदा किये गये पार्ट के रूप में परिभाषित की जा सकती है। लिन्टन (Linton) इसे पद के गत्यात्मक पहलू (dynamic aspect) के रूप में परिभाषित करते हैं। फिर ईलियट एवं मेरिल के शब्दों में "भूमिका वह पार्ट है जो व्यक्ति अपने प्रत्येक पद के फलस्वरूप अदा करता है।"[2]

अस्तु, यहाँ तक हमने पद एवं भूमिका (status & role) की अमूर्त परिभाषाएँ देखीं। आगे इसे उदाहरण के द्वारा भली प्रकार स्पष्ट करते हैं। लिङ्ग के आधार पर देखते हुए हम कहेंगे कि नारी का अलग पद है और पुरुष का अलग। अब पदों की इस पृथकता के अनुसार ही दोनों की भूमिकाएँ अथवा कार्य (role) भी पृथक्-पृथक् होंगे। इसी प्रकार आयु के आधार पर लेते हुए हम कह सकते हैं कि बालक का कुछ और पद होता है, बालिग का

---

1 "The status of the individual is the position he occupies in the group by virtue of his sex, age, birth, marriage, physical abilities, achievements, and designated duties."
—*Elliot & Merril*

2. "The role is the part he plays as a result of each status."
—*Elliot & Merril*

कुछ और और इसी प्रकार वृद्ध का बिल्कुल ही दूसरा। अब बालक से उसके पद के मुताबिक कार्यों की आशा की जाती है, श्रमिक से उसके पद के अनुसार तथा वृद्ध से उसके पद से सम्बन्धित कार्यों को। इतना ही नहीं इन प्रदत्त (ascribed) पदों के अतिरिक्त अर्जित (achieved) पद भी होते हैं। दोनों को ही स्पष्ट करते हुए जाति के आधार पर मिला पद प्रदत्त है और फिर अपने गुणों एवं प्रयत्नों से प्राप्त किया पद अर्जित। उदाहरण के लिये एक अछूत पहले जाति व्यवस्था के अनुसार हीन दृष्टि से देखा जाता था किन्तु रैदास अपने गुणों के आधार पर प्रतिष्ठा के पात्र बने। इसी प्रकार ब्राह्मण का पद यद्यपि जाति व्यवस्था में शिखर पर रहते हुए भी वह किसी होटल में रसोइये के रूप में काम करते हुए महाराज का पद अर्जित करता है जिसे किसी विशेष ऊँची दृष्टि से नहीं देखा जाता। इस विश्लेषण से सामाजिक संरचना के आधारभूत तत्व पद और भूमिका का अर्थ स्पष्ट होता है।

अब हम देखते हैं संरचनात्मक संगठन (Structural Organization) क्या है। यदि समाज की समस्त संस्थाएँ अपने कार्यों को ठीक तरह पूरा कर रही है और साथ ही सदस्य अपने अपने पद के अनुसार भूमिका अदा कर रहे हैं तो संरचनात्मक संगठन उपस्थित कहा जाता है। और इसके विपरीत होने पर सामाजिक विघटन का प्रसार प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सामाजिक संगठन की आधार-शिला संरचनात्मक संगठन है। यदि संरचनात्मक संगठन में किसी प्रकार कोई विकार आ जाता है तो सामाजिक संगठन का स्थान सामाजिक विघटन ले लेता है।

(२) कार्यात्मक संगठन (Functional Organization)–समाज के अपने मूल्य (values) होते है, अपने आदर्श होते है। अब यदि इन मूल्यों के विषय में समाज का हर सदस्य सामञ्जस्य के दृष्टिकोण से देखता है तब तो कार्यात्मक संगठन बना रह सकता है, अन्यथा नहीं। दूसरे शब्दों में सामाजिक मूल्यों एवं वैयक्तिक दृष्टिकोणों में सामञ्जस्य की स्थिति ही कार्यात्मक संगठन की स्थिति है। इसे ही मतैक्य (consensus) भी कहा जाता है। स्पष्ट ही है कि यदि समाज के हर सदस्य का विचार सामाजिक लक्ष्यों एवं उद्देश्यों के प्रति समान नहीं है तो वे सामाजिक लक्ष्य या उद्देश्य जीवित नहीं रह सकते। इस सम्बन्ध में डी० टॉकविल (De-Tocqueville) के विचार उद्धरणीय है "कोई समाज तभी जीवित रह सकता है जब कि अधिकांश व्यक्ति अधिकतर वस्तुओं के विषय में एक ही दृष्टिकोण से विचार करते हों, एवं वे

बहुत से विषयों पर समान मत रखते हों और जब कि एक ही प्रकार की घटनाएँ उनके मस्तिष्क पर समान विचार एवं प्रभाव डालती हों।"[1]

मतैक्य का शाब्दिक अर्थ विचारों की एकता से है। यदि समाज मे विचार सम्बन्धी यह एकरूपता प्राप्त न हो तो समाज का अस्तित्व बना रह सकेगा, यह सन्देहपूर्ण है। ये तभी जबकि समाज का हर सदस्य कुछ बातों को आदर्श मान लेता है और कुछ को त्याज्य, समाज का जीवन गति-*शील रहता है या कहना चाहिये कि इच्छित दिशा मे गतिशील रहता है।* इसके विपरीत होने पर समाज के अस्तित्व की कल्पना करना भी निरर्थक *होगा। पार्क और बर्गेस* (**Park and Burgess**) *ने स्पष्ट कहा है "समाज* सगठित आदतों, सामाजिक दृष्टिकोणो का एक सकलन है—सक्षेप में मतैक्य *ही है।" आज की दशा को ध्यान मे रखते हुए हम कह सकते हैं कि गांवो* मे मतैक्य नगरो के अपेक्षाकृत अधिक प्रबल मिलता है।

(३) सामाजिक प्रक्रिया (Social Processes)—सामाजिक सम्बन्ध सामाजिक प्रक्रियाओं के ढांचे मे पलते है। अस्तु जहां पद एव भूमिका *मे अर्थात सम्बन्धो मे परिवर्तन आने पर सामाजिक सगठन प्रभावित होता है* वहाँ वह सामाजिक प्रक्रियाओ के विचलन से भी डगमगाने लगता *है। इन प्रक्रियाओं को सघर्ष, प्रतिस्पर्धा, व्यवस्थान एव सात्मीकरण आदि* विभिन्न रूपो मे देखा जा सकता है। यहां यह भी ध्यान रखना होगा कि *समाज मे इनका रूप तथा इनके कार्यात्मक सम्बन्ध इतने अधिक अन्तर्विद्ध* होते है कि उन्हे अलग कर पाना बडा कठिन है। अस्तु ये भी सामाजिक सगठन के एक पहलू का विधान करती है।

उपर्युक्त विश्लेषण से सामाजिक सगठन का तात्त्विक रूप स्पष्ट हो गया *होगा। और थोड़ा गहराई मे जाते हुए हम कहेगे कि सामाजिक परिवर्तन* और सामाजिक नियन्त्रण ये दो शब्द है। सामाजिक परिवर्तन समाज की प्रकृति मे ही निहित है। अब यदि इस परिवर्तन की गति को नियन्त्रित रखने के लिये सामाजिक नियन्त्रण के साधनों को समुचित व्यवस्था है तब तो

---

1. "A society can exist only when a great number of men consider a great number of things in the same point of view, when they hold the same opinions upon many subjects, and when the same occurrences suggest the same thoughts and impressions to their minds." —*De Tocqueville.*

समाज तुलनात्मक दृष्टि से सगठित होगा और यदि ऐसा नही है तो समाज विघटन की प्रक्रिया द्वारा आवद्ध हो जायेगा । यहाँ हमारे कहने का तात्पर्य यह नही कि सामाजिक नियन्त्रण इतना कठोर हो कि सामाजिक परिवर्तन को होने ही नही दे, अपितु इसका निहित अर्थ यह है कि सामाजिक नियन्त्रण के साधनो को, सामाजिक परिवर्तन की गति को, सही दिशा मे निर्देशित करते रहने के लिए क्षमतावान होना चाहिये । सामाजिक नियन्त्रण के साधनों में हम जनरीति, प्रथा, परम्परा, रुढि, सस्था एव कानून आदि को बता सकते हैं । इस प्रकार स्पष्ट है कि सामाजिक संगठन उपर्युक्त सारे तत्त्वो का ही सयुक्त रूप है ।

अपने कार्यों में सन्तुलित नहीं रह पाता तो सामाजिक विघटन का जन्म मिलता है।

अब सामाजिक एवं विघटन इन दोनों शब्दों का संयुक्त रूप देते हुए हम कहेंगे कि सामाजिक सम्बन्धों के बीच असन्तुलन (disequilibrium) की स्थिति ही सामाजिक विघटन के नाम से जानी जा सकती है। ईलियट एवं मेरिल महोदय ने भी ऐसा ही कहा है। उनके अनुसार "सामाजिक विघटन वह प्रक्रिया है जिसके कारण समूह के सदस्यों के बीच रहने वाले सम्बन्ध टूट जाते हैं, छिन्नभिन्न हो जाते हैं।"[1]

आगे मोवरर (Mowrer) महोदय ने इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "जब सामाजिक संरचना अपना कार्यात्मक सन्तुलन (balance of functioning) खो देती है तो वह सामाजिक विघटन की ओर मुड़ जाती है।"[2] अब जैसा कि संरचना शब्द के अर्थ से स्पष्ट ही है समाज में हर व्यक्ति का अपना एक पद है और उसमें तदनुसार ही अपनी भूमिका (role) अदा करने की आशा की जाती है। ये बात केवल सदस्यों तक ही सीमित नहीं अपितु संस्थाओं पर भी लागू है। अब ये जो पद के अनुसार भूमिका अदा करने वाली बात है इसे ही सामाजिक संरचना का कार्यात्मक पहलू कहा जा सकता है। इसमें किसी प्रकार का असन्तुलन आने पर सामाजिक विघटन की स्थिति अपना रूप धारण करने लगती है। यहाँ उपर्युक्त विश्लेषण को हम एक उदाहरण से अच्छी प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं। एक मशीन को लीजिये। उसके विभिन्न पुर्जे हैं। हर पुर्जा अपने अपने निश्चित स्थान पर है, मशीन ठीक काम कर रही है। अब यदि उनमें से कोई छोटे से छोटा भी एक पुर्जा यदि तनिक भी अपने स्थान से इधर उधर होता है तो वह सारी मशीन के कार्य को बाधित कर देता है। बिल्कुल यही दशा सामाजिक विघटन की है। सामाजिक संगठन के कुछ आवश्यक तत्त्व हैं। जब तक वे अपने कार्यों का उचित सम्पादन कर रहे हैं सामाजिक संगठन बना हुआ है। किन्तु जैसे ही उनके कार्यों में समातोलन का ह्रास होता है सामाजिक

---

1. "Social Disorganization is the *process by which the* relationships between members of a group are broken or dissolved." —*Elliot & Merril*.

2. "When social structure looses its balance of functioning then it turns into social disorganization." —*Mowrer*.

विघटन की प्रक्रिया गतिशील हो जाती है। इस प्रकार स्पष्ट ही है कि सामाजिक विघटन समाज में अव्यवस्था को जन्म देता है और इस प्रकार अपने विकट रूप में आने पर यह समाज के लिए अवांछनीय भी बन जाता है। यह ध्यान रखना होगा कि सामाजिक संरचना के किसी भी अंग में आया हुआ विघटन केवल एक उसी अंग को ही प्रभावित नहीं करता। विपरीततः वह सम्पूर्ण समाज के ढांचे पर अपना प्रभाव डालता है। इस प्रकार समाज के एक अंग में आया हुआ विकार सम्पूर्ण समाज में ही विघटन की स्थिति ला देता है।

इसे भी एक उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं। समाज की तुलना हम एक शरीर से कर सकते हैं। अब जिस प्रकार शरीर का हर अंग दूसरे अंग से तथा एक प्रकार समस्त अंगों से कुछ इस प्रकार सम्बन्धित है कि किसी एक अंग में पैदा हुआ विकार सम्पूर्ण शरीर के सन्तुलन को ही बाधित कर देता है उसी प्रकार ही समाज के भी अंग अन्तर्सम्बन्धित है। समाज एक अवयव (organism) है जो अविच्छेद्य है। अस्तु इसी तुलनात्मक दृष्टि को मद्देनजर रखते हुए हम कह सकते हैं कि जब शरीर का कोई एक अंग यथा हाथ अपने निश्चित कार्य को नहीं कर पाता तो सारे शरीर में ही सन्तुलन डगमगा जाता है। इसी प्रकार यदि सामाजिक संस्थाएँ जो कि समाज रूपी शरीर के अंग हैं अपना कार्य उचित रीति से नहीं कर पाती तो सामाजिक विघटन की स्थिति जागृत हो जाती है।

• सामाजिक विघटन—एक प्रक्रिया (Process)

इस प्रकार अब तक यह स्पष्ट हो गया होगा कि सामाजिक विघटन क्या है। यहीं पर यह भी स्पष्ट होना चाहिए कि सामाजिक विघटन एक जटिल प्रक्रिया है।[1] प्रक्रिया से तात्पर्य निरन्तरता से है। जैसा कि प्रारम्भ में ही बतलाया जा चुका है कि पूर्ण संगठन या पूर्ण विघटन जैसी किसी चीज का कोई अर्थ नहीं होता। हर समाज हर समय किसी न किसी अंश में संगठित होता है और किसी न किसी अंश में विघटित भी। यह पूर्णतः सामाजिक संगठन की ही भांति एक सामान्य (normal) प्रक्रिया है।

उपर्युक्त बात का और भी विश्लेषण देते हुए हम कह सकते हैं कि

---

1. "Social Disorganisation is a complex process."

सामाजिक परिवर्तन (social change) एक निरन्तर प्रक्रिया है।[1] और विघटन सामाजिक परिवर्तन की ही देन है। अतः सामाजिक विघटन भी एक निरन्तर प्रक्रिया है। यहाँ हम टॉमस एवं जैनिकी (Thomas & Znaniecki) के मत को रखते हुए कह सकते हैं कि सामाजिक विघटन "समूह के सदस्यों के व्यवहार पर प्रस्तुत सामाजिक विधानो के प्रभाव का कम होना है।"[1] दूसरे शब्दों में जब सस्थायें व्यक्ति के व्यवहार पर नियन्त्रण रख पाने मे असमर्थ होती हैं तो परिणामस्वरूप सामाजिक विघटन जन्म लेता है। उदाहरण के लिए यदि परिवार की सस्था अपने सदस्यो के व्यवहारो को उचित दिशा मे निर्देशित करने के लिए उन पर नियन्त्रण नही रख पाती तो सामाजिक विघटन स्वत ही गति प्राप्त करेगा।

यही पर एक और प्रश्न का निवारण कर देना भी आवश्यक है। कुछ विचारकों का कहना है कि सामाजिक विघटन एक ऐसी स्थिति है जिसमें सम्बन्ध कुछ इस प्रकार के बनते है जो निराशा, अतृप्त इच्छा, विक्षोभ एव दुःख को लाते हैं।[2] इन विचारको मे क्वीन (Queen) बोडन हाफर (Boden Hafer) और हार्पर (Harper) के नाम उल्लेखनीय हैं। किन्तु इसके विपरीत रोबर्ट फैरिस (Robert Faris) महोदय का कहना है कि "विघटन को बुरा या अवाञ्छनीय नही कहा जा सकता।"[3] अब इस सम्बन्ध में जहाँ तक हमारे मत का प्रश्न है हम कहेंगे कि एक सीमा तक तो सामाजिक विघटन ठीक है क्योंकि वह अनिवार्य है और साथ ही अनावश्यक विकारो को दूर करता है। किन्तु उस सीमा का उल्लघन करने पर सामाजिक विघटन श्रेयस्कर नही। यह ठीक इस अर्थ मे है कि जिस प्रकार जुकाम या ताप या अन्य कोई शारीरिक रोग शरीर से उन विषैले विकारो को बाहर निकाल फेंकता है जो वहाँ बने रहने पर खतरनाक बन सकते है उसी प्रकार

(४) सामाजिक संरचना में परिवर्तन (Change in Social Structure)— जैसा कि सामाजिक संरचना की व्याख्या करते हुए हम प्रारम्भ में ही कह आये है कि पद (status) और भूमिका (role) ही इसके आधार है। अब इन पद और भूमिका के सन्दर्भ में आशा (expectation) का स्थान अत्यन्त प्रधान है। दूसरे शब्दों में हर व्यक्ति को कुछ पद (status) प्राप्त है और इसके अनुसार ही उससे तत्सम्बन्धित भूमिका (role) की आशा की जाती है। अब यदि व्यक्ति अपने पद के अनुसार भूमिका अदा नहीं करता तो सामाजिक विघटन का प्रसार होता है।

इसे हम वैज्ञानिक दृष्टि से तीन रूपों में देख सकते हैं। ये अधोलिखित है—

(१) पदों एवं भूमिकाओं (statuses & roles) में अस्पष्टता आ जाना सामाजिक विघटन का महत्वपूर्ण लक्षण है। जब व्यक्ति को अपने निश्चित पद का आभास नही होता तो वह तदनुसार व्यवहार नहीं अपना सकता। और इसका परिणाम होता है सामाजिक अव्यवस्था। इसके उदाहरण के लिये आज की विवाहिता नारी की स्थिति देखी जा सकती है। आज की विवाहिता नारी यह निश्चय नही कर पाती कि उसका पद (status) क्या है। उसकी समझ मे नही आता कि वह जीवन संगिनी है, या प्रेमिका है या मित्र है या कुछ और। फिर साथ ही इस प्रकार उसका पद अस्पष्ट एवं अनिश्चित बना हुआ है जो विघटन का सहज सा लक्षण है। इसे ही दूसरे शब्दो में इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि जब व्यक्ति का पद एकायक बदल जाता है तो उसे अपने बदले हुए पद की भूमिका से सामञ्जस्य कर पाना कुछ कठिन होता है। यह स्थिति स्पष्टत: ही विघटन की स्थिति का संकेत है। उदाहरण के लिये हाल ही मे पाकिस्तान में स्थापित होने वाले फौजी शासन के अनेक उच्च अधिकारियों से उनका पद छिना लिया और इस प्रकार अब वे ही अधिकारी जो एक रोज शासक थे अपनी इस बदली हुई स्थिति से सामञ्जस्य न कर पाने के कारण अपनी सही भूमिका न निभा सके। अस्तु स्पष्टत: ही सामाजिक विघटन वहाँ वर्तमान है।

(२) उच्च पद पर आसीन होते हुए भी जानते बूझते हुए तदनुसार भूमिका अदा न कर पाना भी सामाजिक विघटन की ही स्थिति है। उदाहरण

के लिये यदि किसी बड़े महाविद्यालय का प्रधानाध्यापक अपने विद्या दान के कार्य का सम्पादन न कर राजनैतिक दलबन्दी में फंसता है तो यह विघटन की स्थिति का सूचक है। और भी स्पष्ट बनाते हुए हम कह सकते हैं कि यदि न्यायाधीश अपने पद के अनुसार निष्पक्ष न्याय न करके अन्याय को बढ़ावा देता है तो यह दशा सामाजिक विघटन की ही दशा है।

(३) आगे सामाजिक पद और भूमिका के असन्तुलन का तीसरा रूप वह रूप है जिसमें नीचे पद वाला व्यक्ति अपने पदानुसार कार्य न कर ऊँचे पद सम्बन्धी भूमिका को अदा करने लगता है। इस सम्बन्ध में उदाहरण के लिये हम जाति व्यवस्था की उन्मूलन सम्बन्धी भारतीय दशा को देख सकते है। यहाँ हरिजन लोगों को उनके पिछड़ेपन से उठाकर उन्हे सबके समान बनाने के प्रयत्न चल रहे है। परिणामस्वरूप आज अनेक हरिजन ऊंचे-ऊँचे पदों को भी प्राप्त कर रहे है। अब वैसे परम्परात्मक दृष्टि से यहाँ उन्हे हीन समझा जाता रहा और आज जब वही एक अध्यापक या शासन के महान कार्य का सम्पादन करते हैं तो अन्य लोगों का उससे सामञ्जस्य एक समस्या बन जाती है। फलस्वरूप यह समस्या सामाजिक विघटन का एक स्वरूप ही तो है। अस्तु संक्षेप में ईलियट एवं मेरिल का कथन मान्य है।[1]

सामाजिक विघटन के कारण सम्बन्धी सिद्धान्त (Theories of Social Disorganization)

विभिन्न विद्वानों ने सामाजिक विघटन की व्याख्या के लिये विभिन्न सिद्धान्तों को बतलाया है। कुछ इस प्रकार हैं—

(१) धार्मिक सिद्धान्त—इस सिद्धान्त का दूसरा नाम प्रेतवादी (Demnological) सिद्धान्त है। प्रारम्भ में दो शक्तियाँ मानी गईं—देव और शैतान। अब इस विघटन के लिये दूसरी वाली सत्ता को दोषी ठहराया गया। यह शैतान ही व्यक्ति को बुरे कार्यों की ओर प्रेरित करने वाला माना गया। साथ ही यह भी पूर्वमान्य किया गया कि शैतान द्वारा आकर्षित हो जाना मनुष्य की प्रकृति में निहित है। इस प्रकार इस सिद्धान्त द्वारा एक बाह्य अनियन्त्रित शक्ति को ही सामाजिक विघटन के लिये उत्तरदायी कहा गया।

---

1. "When these statuses and roles are clear & unambigous, a society is relatively well [illegible] When the reverse is true, social [illegible]
Elliot & Merril

आलोचना—प्रथम तो यह सिद्धान्त एकांगी सिद्धान्त है । दूसरे शब्दों में हम इसे निर्धारणवादी (Deterministic) सिद्धान्त कह सकते हैं । स्पष्टतः ही यह कोई वैज्ञानिक व्याख्या प्रतीत नहीं होती । फिर आज तो आध्यात्मिक मूल्यों (spiritual values) के प्रति अधिक आस्था न होने के कारण यह सिद्धान्त स्वतः ही अमान्य हो रहा है ।[१]

(२) सामाजिक समस्या सिद्धान्त (Social Problem approach) इस सिद्धान्त के अनुसार सामाजिक समस्याओं का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । यहाँ सामाजिक समस्याओं को अवाञ्छनीय एव सामाजिक प्रगति मे वाधा के रूप मे देखा गया । यह समस्याएँ वही जन्म पाती वतलाई गई जहाँ व्यक्तिगत एव सामाजिक व्यवहार अनियन्त्रित से हो गये हैं और समाज विरोधी दिशाओं की ओर उन्मुख हो गये है । इसके अनुसार प्रेम विवाह (love marriage) एव तलाक आदि किसी समाज के लिये समस्या हैं । अव इन समस्याओं को इस सिद्धान्तानुसार सामूहिक प्रयत्नों द्वारा दूर किया जा सकता है ।

आलोचना—१—इस सिद्धान्त के अनुसार सामाजिक समस्या की एक निश्चित परिभाषा का अभाव है । यहाँ सामाजिक रूढियो के विरुद्ध व्यवहार ही सामाजिक समस्या वतलाया गया है । इस सम्वन्ध मे लैमर्ट महोदय ने आठ प्रकार की रूढियों को गिनाया भी है ।

(i) निवास की स्थिरता, (ii) निजी सम्पत्ति, (iii) कम खर्च की आदत, (iv) कार्य की आदत, (v) यौन सम्बन्धों में बुद्धि का प्रयोग, (vi) पारिवारिक स्थायित्व, (vii) पडौस की भावना, (viii) इच्छा पर नियन्त्रण ।

अव इन रूढियो के विपरीत जाना सामाजिक समस्याओं को पैदा करना है । किन्तु वस्तुतः यह सामाजिक समस्या की कोई वैज्ञानिक परिभाषा नही हो सकती । रूढियाँ कोई निश्चित उच्च साधन नही कहे जा सकते । फिर यदि हम आज की दशाओं मे इस सिद्धान्त को देखें तो इस सिद्धान्त की कमजोरी स्पष्टतः नजर आ जायगी । आज की दशाओं मे तो विपरीतत सामाजिक रूढियाँ ही अपने आप में एक समस्या बनी हुई है और उन्हे तोडना तो ठीक माना जाता है । द्वैतियक समूहों मे रूढियाँ (Mores) का कोई अर्थ ही

..णय (value judgment) से स्वतन्त्र रहना असम्भव है। इस सम्प्रदाय ने केवल दृष्टिकोण से सामाजिक समस्या की व्याख्या की है। वे कहते हैं कि 'सामाजिक समस्या शब्द से उस स्थिति का समझा जा सकता है जिसके विषय में कि बहुत अधिक मनुष्य बाधित एवं दुखी महसूस करते हैं। इसका अर्थ केवल यही है और कुछ नहीं।'[1] यह परिभाषा केवल वर्णनात्मक है और इसलिए मूल्यात्मक निर्णय से स्वतन्त्र है। किन्तु वास्तविकता यह है कि इस सम्प्रदाय की अपनी परिभाषा भी सुख एवं दुख के तत्त्व को अपने में शामिल किए हुए है और इस प्रकार स्वयं ही मूल्यात्मक निर्णय से स्वतन्त्र नहीं। खैर, जो कुछ भी हो किन्तु इस सम्प्रदाय की आलोचना मान्य है।

आगे हम लेमर्ट (Lemert) महोदय द्वारा दी गई इस सिद्धान्त की आलोचना देखते हैं।

(३) इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमी इसके प्रत्ययों एवं अमूर्त तत्त्वों का कुछ नीचा स्तर है।[2]

(४) यह व्याख्या दिन प्रतिदिन की हाल की व्यावहारिक कठिनाइयों पर अपना प्रकाश केन्द्रित करती है। इस प्रकार यह सिद्धान्त (theory) बनने के सर्वथा अयोग्य है। अस्तु यह अपने आप में अपूर्ण है।

उपर्युक्त सारी बातों को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि यह सिद्धान्त निस्सन्देह कमजोरियों से भरा-पूरा है।

---

1. "The term social problem is taken to mean a social situation about which a large number of people feel disturb & unhappy—this & nothing more."

2. "This approach suffers from a low level of abstraction & conceptualization." —*Lamert.*

(३) मनोजैवकीय सिद्धान्त (Bio-Psychological Approach) इस सिद्धान्त का प्रारम्भ पहले गोबिनो (Gobineau) आदि के प्रजातीय आधार पर हुआ। गोबिनो ने इस सम्बन्ध मे प्रजातिय मिश्रण (racial-intermixture) पर विशेष बल दिया है। गोबिनो के अनुसार प्रारम्भ से ही तीन प्रजातियाँ बलवान रही है—श्वेत, पीली और काली। श्वेत प्रजाति महान है और अन्य निम्न। अब गोबिनो के अनुसार श्वेत प्रजाति ने अन्य प्रजातियों को अपने अधीन कर उनमे सन्तान पैदा की और इसी कारण विघटन का प्रारम्भ एव प्रसार हुआ।

इसी सिद्धान्त को सुप्रजनन-शास्त्रियो (Eugenists) ने और भी आगे खीचा। उन्होंने बतलाया कि पृथक-पृथक प्रजातियों मे ही नही अपितु एक ही प्रजाति के लोगो मे ही पर्याप्त अन्तर विद्यमान रहते है। अस्तु हीन लोगों के द्वारा होने वाले सन्तानोत्पादन के द्वारा ही सामाजिक समस्याएँ एव विघटन प्रस्तुत होते है। परिणामत: उन्होने ऐसे लोगो के निर्वीर्यीकरण पर बल दिया।

आगे मनोवैज्ञानिको ने बुद्धि परीक्षा (I. Q. test) द्वारा इस सम्बन्ध मे खोजे की और उन्होंने बतलाया कि मानसिक क्षमता के क्षेत्र मे विभिन्न व्यक्तियों के बीच जबर्दस्त अन्तर होते है। साथ ही इस आधार पर यह कहा गया कि कमजोर बुद्धि वाला व्यक्ति असगत-सामञ्जस्य (mal-adjustment) की समस्या को विशेष बल देता है। यही चीज विघटन की ओर ले जाने वाली होती है।

आलोचना—(१) प्रजाति विज्ञान के विकास को देख हम कह सकते है कि इस आधार पर प्रतिपादित होने वाला श्रेष्ठता या हीनता का सिद्धान्त निरर्थक है। अस्तु गोबिनो महोदय का सिद्धान्त जब अपने प्रत्यय के विज्ञान से ही मेल नही खाता तो वह यथार्थ कैसे हो सकता है।

(२) प्राणिशास्त्रीय अन्तर्मिश्रण वास्तव मे सामाजिक अन्तर्मिश्रण से अधिक नियत्रित एवं निर्देशित होता है, अपेक्षाकृत किसी और तत्त्व के।

(३) फिर जहाँ तक बुद्धि परीक्षा (I. Q. test) का सम्बन्ध है अभी तक यह ही निश्चित नही हो पाया है कि ज्ञान (knowledge) से पृथक् होकर बुद्धि (intelligence) अपने आप मे है क्या। फिर उस पर भी इस आधार पर विघटन की धारणा का स्थापन कुछ अधिक जमता नही।

(३) [illegible] सिद्धान्त [illegible] (determi-nism) [illegible] एकांगी [illegible] है।

(४) भौगोलिक सिद्धान्त (The Geographical Approach)—जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, यह सिद्धान्त अन्य सारे कारकों को अनावश्यक एवं महत्वहीन मानकर पूरी तरह भौगोलिक दशाओं पर बल देता है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों के अनुसार सभ्यता, संस्कृति तथा व्यक्ति के रहन सहन के ढंग अथवा जीवन प्रणाली किसी भी स्थान विशेष की जलवायु आदि सम्बन्धी स्थितियों से पूरी तरह निर्धारित होती है। अस्तु सारी समस्याएं भी भौगोलिक कारकों का ही फल है।

आलोचना—कोई भी अतिवादी व्याख्या बहुधा उचित नहीं होती। इसी आधार पर हम कह सकते है कि सामाजिक, आर्थिक सांस्कृतिक एव अन्य अनेक ऐसे कारणों को पूरी तरह नजर से ओझल कर केवल भौगोलिक दशाओं को ही सामाजिक विघटन के लिये उत्तरदायी मान लेना कुछ अटपटा सा लगता है। स्पष्ट रूप से यह भी कुछ विशेष वैज्ञानिक नहीं।

(५) सांस्कृतिक सिद्धान्त (The Cultural Theory)— इस सिद्धान्त की भी तीन मान्यताएँ है। प्रथम तो यह स्पष्ट जान लेना चाहिये कि संस्थानीकृत जीवन प्रणाली ही संस्कृति कहलाती है। अस्तु इसी अर्थ मे जब संस्थाएँ उचित ढंग से अपने कार्यों का प्रतिपादन नही करतीं तो निसन्देह ही सामाजिक समस्याएँ जन्म पाती है। उदाहरण के लिये कहा जा सकता है कि शिक्षा संस्था का ठीक दिशा मे कार्य सम्पादन न करने का परिणाम है बेरोज-गारी। इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि संस्थाओं के इस सन्तुलित कार्य प्रणाली के अभाव मे विघटन गति पाता है।

द्वितीय इस सम्बन्ध मे आगबर्न के सांस्कृतिक पिछड़न (Cultural lag) के सिद्धान्त को भी देखा जा सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार सुविधा के लिये संस्कृति को दो भागों मे देखा जा सकता है—एक भौतिक और दूसरी अभौतिक। अब ऑगबर्न (Ogburn) महोदय के अनुसार संस्कृति के प्रथम भाग अर्थात् भौतिक संस्कृति मे तो परिवर्तन शीघ्रता से आते रहते है और अभौतिक मे विपरीत स्थिरता का तत्त्व विशेष रूप से विद्यमान रहता है। अब क्योंकि इन दोनों अंगों मे सामञ्जस्य नही रह पाता इसीलिये समस्त सामाजिक समस्याएँ अथवा विघटन इसी सांस्कृतिक पिछड़न का ही परिणाम हैं। इसे एक उदाहरण देकर अच्छी प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। कृषि

के क्षेत्र में अनेक नवीन आविष्कार हो गये हैं किन्तु फिर भी कृषि करने की प्राचीन रीतियाँ अभी तक परिवर्तित नहीं हो पाई हैं। परिणामस्वरूप यह सांस्कृतिक पिछड़न के रूप में सामाजिक विघटन को जन्म देता है।

तृतीय रूप मे सास्कृतिक सिद्धान्त पर थॉमस एवं जैनिकी महोदय ने बल दिया है। इसे सांस्कृतिक संघर्ष का सिद्धान्त भी कहा जा सकता है। प्राचीन सस्कृति की ओर नयी सस्कृति का आगमन विरोध को जन्म देता है। अस्तु, इस प्रकार यह अनेक सामाजिक समस्याओं को जन्म दे सामाजिक विघटन को बल देता है। इसे हम दूसरे शब्दों में प्राचीन एवं नवीन का संघर्ष भी कह सकते हैं।

आलोचना—सास्कृतिक सिद्धान्त अपने विश्लेषण मे एक सीमा तक ठीक रहते हुए भी जहाँ यह घोषित करता है कि वही एकमात्र पूर्ण है, अमान्य हो जाता है। साथ ही वैसे भी सास्कृतिक पिछड़न के सिद्धान्त के विषय में सस्कृति का दो भागो मे विभाजन वैज्ञानिक प्रतीत नही होता। अस्तु यह भी अपूर्ण ही रहा।

(६) सावयवी सिद्धान्त (Organic Theory)—यह सिद्धान्त चार्ल्स कूले (Charles Cooley) महोदय ने प्रतिपादित किया है। इन्होंने समाज को एक सावयव प्रक्रिया (organic process) के रूप मे माना है। अस्तु इस प्रकार कूले के अनुसार समाज और व्यक्ति दोनों ही अविच्छेद्य हैं—एक ही वस्तु के दो पहलू है।[1]

अब उनके अनुसार जब सामाजिक संस्थाएँ (social institutions) जिन मागों (demands) के लिये विकसित हुई उनको पूरा करने मे अक्षम रहती है तो वे व्यक्तियो के व्यवहारो पर भी नियन्त्रण नही रख पाती। ऐसा बहुधा समाज की परिवर्तनशील प्रकृति के कारण होता है। अब ऐसी स्थिति कूले महोदय के शब्दो मे फॉरमैलिज्म (formalism) के नाम से पुकारी जाती है। दूसरे शब्दो मे यही स्थिति विघटन की स्थिति कही जा सकती है।

---

1. "The real thing is human life, which may be considered either in an individual aspect or in a social, that is to say a general aspect ; but is always, as a matter of fact both individual & general." —*C. H. Cooley,*

कूले महोदय के अनुसार सामाजिक विघटन कारण और कार्य दोनो ही है। साथ ही उनके मत मे यही बात वैयक्तिक विघटन के विषय मे भी कही जा सकती है। आगे सामाजिक विघटन की व्याख्या करते हुए वे कहते है कि "सामाजिक विघटन सस्थात्मक नियन्त्रणो को तोड़ देता है और मनुष्य की स्वाभाविक प्रकृति को फिर सामाजिक प्रतिमानो के नियन्त्रण से विहीन हो कार्य करने का अवसर देता है।"[1] और भी "यह सस्थाओ के नियन्त्रण का दिखावटीपन (formalism) है जो व्यक्ति के ऊपर बाह्य रूप से प्रभाव डालता है और आन्तरिक रूप से उसका मार्ग प्रदर्शन नही करता तथा इस प्रकार सामाजिक विघटन के रूप मे विकसित होता है जिसमे सस्थात्मक प्रतिमान अपना प्रभाव खो बैठते है।"[2] इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि कूले महोदय के अनुसार यही स्थिति सामाजिक विघटन की स्थिति है।

उपर्युक्त समस्त सिद्धान्तो पर एक सामान्य बात कहते हुए हमे बतलाना होगा कि यद्यपि आंशिक रूप से इनमे से अधिकतर अपने मे कुछ पूर्ण होते हुए भी इनके एकागीपन एव निर्धारणवादी दृष्टिकोण ने इन्हे आलोच्य बना दिया है। अस्तु, यदि हमे सामाजिक विघटन के वास्तविक कारणो को देखना है तो उसके लिये यह अतिवादी दृष्टिकोण उत्पादक नही रह सकता।

सामाजिक विघटन के कारण (Causes of Social Disorganisation)

ऊपर हमने सामाजिक विघटन के कारण सम्बन्धी सिद्धान्त देखे। साथ ही पाया कि उनमे से प्रत्येक किसी एक ही कारक को लेकर सामाजिक विघटन का विश्लेषण करता है। किन्तु इस प्रकार का एकागी विवेचन वैज्ञानिक नही कहा जा सकता। ईलियट एव मेरिल ने स्पष्ट कहा है "सामाजिक विघटन के

---

1. "Social Disorganization leads to break down in institutional controls & allows man's elemental nature to function again, unrestrained by social patterns." —*Charles Cooley.*

2. "It is the formalism of institutional controls which function externally upon the individual leaving him internally without guidance that develop into Social Disorganization in which institution at patterns loose their effectiveness."

—*Charles Cooley.*

लिये कोई एक कारण नहीं है। अस्तु अब हम इसके विभिन्न कारणों का पृथक्-पृथक् अध्ययन करते है।

(१) सामाजिक परिवर्तन (Social Change)—सामाजिक विघटन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण सामाजिक परिवर्तन है। परिवर्तन विचलन या गति का ही दूसरा नाम है। अब कोई भी स्थिर से स्थिर समाज भी ऐसा नही हुआ है जो कि अगतिशील हो। अस्तु, दूसरे शब्दों मे सामाजिक परिवर्तन एक निश्चित तथ्य है। किन्तु यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना अनिवार्य है कि केवल परिवर्तन ही सामाजिक विघटन के लिये उत्तरदायी नही अपितु सामाजिक परिवर्तन की अन्तरपूर्ण दर (differential rate of social change) ही वस्तुत: इसके लिये उत्तरदायी कही जा सकती है। इस अन्तरपूर्ण दर से यहाँ अभिप्राय यह है कि समाज के विभिन्न अगों मे परिवर्तन की दर एक रूप न होकर पृथक्-पृथक् होती है। दूसरे शब्दों मे यदि समाज के एक अग में आमूल परिवर्तन हो जाता है तो दूसरे में बिल्कुल नहीं। अस्तु सामाजिक परिवर्तन की इस असमान दर के ही कारण सामाजिक विघटन जन्म पाता है। यही कारण है कि ईलियट एव मैरिल ने स्पष्ट कहा है "एक परिवर्तनशील समाज के विभिन्न तत्त्वों में असमान दर से परिवर्तन होने के कारण एक विघटित समाज बनने की ओर झुका रहता है।"[1]

यहाँ आगे बढने के पूर्व यह भी जान लेना आवश्यक है कि सामाजिक परिवर्तन क्या है। इस सम्बन्ध मे डेविस (Davis) महोदय का कहना है कि "सामाजिक परिवर्तन से तात्पर्य उन परिवर्तनों से है जो सामाजिक सगठन अर्थात् समाज की सरचना और कार्यों मे विघटित होते है। अस्तु ये अनेक कारणों से घटित हो सकते हैं। जो कुछ भी हो किन्तु सामाजिक परिवर्तन ही सामाजिक विघटन का मार्ग है।

आगे इस सम्बन्ध में ऑगबर्न (Ogburn) महोदय का सांस्कृतिक विलब (Cultural lag) का सिद्धान्त भी परम महत्त्वपूर्ण है। इस सिद्धान्त के अनुसार जैसा कि पहले बतलाया ही जा चुका है कि सस्कृति के भौतिक अग मे परिवर्तन की गति तीव्र रहती है और अभौतिक मे मन्द। परिणाम-

---

1 "A changing society tends to be a disorganized society because of the disparity in the rate of change between the different social elements." —*Elliot & Merril.*

(attitude) क्या है। विलियम जेम्स (William James) महोदय कहा है कि दृष्टिकोण पूरे "विश्व को अर्थपूर्ण बनाता है" (Engende meaning upon the world)। इसकी शाब्दिक उत्पत्ति ध्यान में रख हुए हम कहेंगे कि इसके एक से अधिक अर्थ होते हैं। लैटिन शब्द Aptu से इसका उद्‌भव एक ओर तो उपयुक्तता (fitness) या समायोज (adaptedness) और दूसरी ओर Aptitude से इसका उद्‌भव किस क्रिया की तैयारी की आन्तरिक अथवा मानसिक दशा की ओर सकेत करत है। अब विचारको द्वारा दी गई इसकी परिभाषा देते हुए वुडवर्थ (Wood Worth) के अनुसार हम कहेंगे कि दृष्टिकोण "हमारे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष परिचय मे आये एक वस्तु (object) के लक्षणों के अनुसार ही उस वस्तु (object) के प्रति क्रिया एव अनुभव करने की तत्परता है।"

अब सामाजिक दृष्टिकोण का सही अर्थ समझने के लिये हम टॉमस एवं जैनिकी महोदय के दृष्टिकोण की परिभाषा भी समझ सकते हैं। उनके अनुसार एक सामाजिक दृष्टिकोण "वैयक्तिक चेतना की वह प्रक्रिया है जो सामाजिक क्षेत्र मे व्यक्ति की वास्तविक अथवा सम्भावित क्रिया को निर्धारित करती है।"[1]

आगे जैसा कि उपर्युक्त परिभाषाओ से स्पष्ट हो है दृष्टिकोण कही शून्य में निवास नही करता अपितु वह किसी विशिष्ट वस्तु (object) के प्रति होता है। अब इस वस्तु को ही जिसके प्रति कि दृष्टिकोण बनता है मूल्य (value) कहा जाता है। अस्तु यही प्रक्रिया है जिसके द्वारा कि वस्तु (object) को कोई एक अर्थ प्राप्त होता है। यह वस्तु भौतिक हो सकती है, अभौतिक हो सकती है, मूर्त हो सकती है अमूर्त हो सकती है। यहाँ अमूर्त से तात्पर्य विचारधारा या धारणा से है। अब दृष्टिकोण मे निहित क्रिया इस वस्तु को अर्थ प्रदान करती है। ये अर्थ अनेक हो सकते हैं, विभिन्न हो सकते हैं। कारण है कि एक ही वस्तु अनेक वास्तविक अथवा सम्भावित क्रियाओ को जन्म दे सकती है। राकेट के आविष्कार का अर्थ विभिन्न व्यक्तियो को पृथक्-पृथक् हो सकता है। साम्यवाद का प्रत्यय एक व्यक्ति को एक अर्थ रखता है और

---

1. A social attitude is "a process of individual consciousness which determines real or possible activity of the individual in the social world." —*Thomas & Znaniecki.*

दूसरे व्यक्ति को दूसरा। पूँजीवादी इसे किसी दूसरी नजर से देखेगा और समाजवादी किसी दूसरी ही से।

यहाँ पर यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि दृष्टिकोण का निर्माण अथवा विकास अनुभव के आधार पर होता है। दूसरे शब्दों में यह सामाजीकरण की प्रक्रिया (process of socialization) के द्वारा होता है। यहाँ हम भूतपूर्व अपराधी जातियों (ex-criminal tribes) की स्थिति से इस बात को अधिक स्पष्ट कर सकते हैं। चोरी की एक धारणा है। उसके प्रति एक नागरिक समाज में पला व्यक्ति उपेक्षा का दृष्टिकोण अपनायेगा और दूसरी ओर अपराधी जाति में पला बालक अपेक्षा का दृष्टिकोण अपनायेगा। धारणा या विचार एक ही है किन्तु उसके प्रति दृष्टिकोण पृथक्-पृथक् हैं। ऐसा क्यों होता है? ऐसा होता है उस वातावरण के कारण जिसमें कि व्यक्ति पलता है। अब यहाँ पर यह भी ध्यान रखना होगा कि व्यक्ति अपनी विशिष्ट उप-संस्कृति अथवा समूह के दृष्टिकोणों को भी अपना सकता है जो बहुधा पूर्ण समाज के दृष्टिकोणों से पृथक् होते हैं। उदाहरण के लिये नागरिक समाज में ही रहने वाला बाल अपराधी दल का सदस्य अपराधी जातियों के दृष्टिकोणों को अपना लेता है। ऐसा क्यों? ऐसा इसलिये वह उप-समूह जिसका वातावरण कि उसे मिला ऐसा ही है कि उन दृष्टिकोणों को अपनाये बिना वह रह नहीं सकता। इस प्रकार समाज विरोधी दृष्टिकोणों (anti-social-attitudes) को जन्म मिलता है। फिर यही समाज विरोधी दृष्टिकोण सामाजिक विघटन के कारण बनते हैं। इसे हम एक और उदाहरण द्वारा भी स्पष्ट कर सकते हैं। हमारे यहाँ की जाति व्यवस्था को लीजिये। यहाँ ब्राह्मण जाति में पलने वाले बालक को एक बड़ी हद तक आज भी ऐसा प्रारम्भ से ही सिखाया जाता है कि फलाँ जाति अछूत है, निम्न है, हीन है। परिणामस्वरूप बालक में एक विशेष जाति के प्रति यह हीन दृष्टि का दृष्टिकोण विकसित हो जाता है जो फिर सामाजिक विघटन का परम महत्त्वपूर्ण कारण बनता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जब सम्पूर्ण समाज के लक्ष्यों एवं आदर्शों के अनुरूप दृष्टिकोण नहीं बनता तो वह सामाजिक विघटन को बल देता है। दूसरे शब्दों में सामाजिक विघटन की प्रकृति को ठीक से समझने के लिये समाज-विरोधी (anti social) दृष्टिकोणों की उत्पत्ति का जानना अनिवार्य एवं वाञ्छनीय होगा।

(३) सामाजिक मूल्य (Social Values)—मूल्य (values) का समाजशास्त्रीय अर्थ समाज के उन आदर्श प्रतिमानों (normative

patterns) से है जो उनके अस्तित्व एवं विकास के लिये आवश्यक समझे जाते हैं। यहां इस बात को ध्यान रखना होगा कि मूल्यों में किसी न किसी अंश में आदर्श या तत्व आवश्यक रूप से विद्यमान होता है। इसी आधार पर ईलियट एवं मेरिल महोदय ने भी कहा है कि "सामाजिक मूल्य वे सामाजिक वस्तुयें (objects) होती हैं जो हमारे लिये कुछ अर्थ रखती हैं और जिन्हें हम जीवन की योजना के लिये महत्वपूर्ण समझते हैं।"[1] अब सामाजिक दृष्टिकोण जैसा कि पहले ही बतलाया जा चुका है वह मानसिक दशा है जिसके द्वारा कि हम इन मूल्यों को अर्थपूर्ण कर मानते हैं। इस प्रकार किसी भी सामाजिक मूल्य का सबसे महत्वपूर्ण तत्व वह अर्थ है जो सामाजिक दृष्टिकोण इसे प्रदान करता है। कोई भी वस्तु मूल्य तभी बन सकती है जबकि सामाजिक दृष्टिकोण उसको अर्थ प्रदान कर देता है, किसी अन्य दशा में नहीं।

अब आगे बढ़ने से पूर्व यह भी जान लेना आवश्यक है कि हर समाज अपने कुछ मूल्य (values) रखता है। ये ही मूल्य सारे समाज के आधार होते हैं। यही कारण है कि ईलियट एवं मेरिल ने कहा है कि "सामाजिक मूल्यों के अभाव में न तो सामाजिक संगठन ही रहेगा और न ही सामाजिक विघटन।"[2] दूसरे शब्दों में इसका अर्थ है कि हर समाज अपने कुछ रीति-रिवाज रखता है, अपने कुछ सामाजिक, आर्थिक, नैतिक एवं धार्मिक प्रतिमान रखता है। यदि इन बातों का अभाव हो जाय तो सामाजिक जीवन सम्भव ही नहीं हो सकता। इस प्रकार सामाजिक मूल्य ही सामाजिक व्यवहार को सही दिशा में निर्देशित करते हैं।

अब यह जानने के लिये कि किस प्रकार सामाजिक मूल्य सामाजिक विघटन को बढ़ावा देते हैं हम कहेंगे कि जब तक सामाजिक मूल्यों के प्रति उन्हें मूल्य कर समझने वाले दृष्टिकोण बने रहते हैं तब तक सामाजिक संगठन का प्रभुत्व रहता है और ज्यों ही सामाजिक दृष्टिकोण इन मूल्यों को न पहचान कर किसी और वस्तु (object) की ओर उन्मुख हो जाते

1. "Social values are social objects which have a meaning for us & which we consider important to our scheme of life."
—*Elliot & Merril.*

2. "Without social values,, neither social organization nor social disorganization would exist." —*Elliot & Merril.*

है या सामाजिक विघटन अपनी जड़ पकड़ लेता है। अस्तु हम कह सकते है कि सामाजिक विघटन वह स्थिति होती है जिसमें कि मूल्य और दृष्टिकोणों में सामञ्जस्य नहीं रहता और इस प्रकार से समूह के सम्बन्धों को विशृंखलित करते है। उदाहरण के लिये स्थायी एक विवाह एक विचार है। यदि सामाजिक दृष्टिकोण इसे अर्थ प्रदान करते हैं अर्थात् इसको मान कर चलते है तो तलाक की स्थिति एक समस्या के रूप मे उपस्थित होगी। तलाक की समस्या क्या पैदा हुई ? इसलिये कि सामाजिक दृष्टिकोण ने स्थायी एक विवाह के विचार को मान्यता दे दी। यदि ऐसा न हुआ होता तो तलाक के एक समस्या बनने का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता।

आगे इसी बात को हम दूसरी तरह इस प्रकार कह सकते है कि जब सामाजिक मूल्यों के प्रति वैयक्तिक दृष्टिकोण (individual attitudes) अपना सामञ्जस्य नही करते तो सामाजिक विघटन का प्रसार होता है। ईलियट एवं मैरिल महोदय ने भी स्पष्ट कहा है "सामाजिक संगठन की स्थिति मे वैयक्तिक दृष्टिकोण एवं सामाजिक मूल्यों मे अपेक्षाकृत सामञ्जस्य रहता है जबकि सामाजिक विघटन मे इन दोनों मे अपेक्षाकृत असामञ्जस्य रहता है।"[1] बात वही है जो ऊपर कही गई है। किन्तु यहाँ एक शब्द पर विशेष रूप ध्यान देना आवश्यक है। वह शब्द है 'अपेक्षाकृत'। अर्थ यही है कि न तो कभी ऐसी स्थिति ही होती है जबकि सामाजिक मूल्यों एवं वैयक्तिक दृष्टिकोणों मे पूर्ण सामञ्जस्य मिलता हो और साथ ही न ऐसी ही स्थिति होती है जिसमें कि सामाजिक मूल्यों एवं वैयक्तिक दृष्टिकोणो मे पूर्ण असामञ्जस्य हो। इस सामञ्जस्य असामञ्जस्य को तुलनात्मक दृष्टि से प्राप्त किया जाता है। दूसरे शब्दों मे मतलब निकलता है कि सामाजिक विघटन एक प्रक्रिया है। अब इस सामाजिक मूल्य एवं वैयक्तिक दृष्टिकोण के असामञ्जस्य को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मानव जीवन एक सामाजिक मूल्य है। इस प्रकार किसी की हत्या अथवा आत्महत्या का कार्य सामाजिक विघटन की स्थिति मे योग प्रदान करेगा। स्पष्ट है कि हत्या करने वाले व्यक्ति के दृष्टिकोण ने मानव जीवन के सामाजिक मूल्य को मान्यता प्रदान नही की

---

1. "Social organization implies a relative harmony between individual attitudes and social values, where as social disorganization implies relative disharmony between the two."
—*Elliot & Merril.*

है, उसे अर्थपूर्ण नही माना है। इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि सामाजिक विघट की स्थिति मे सामाजिक मूल्य एव वैयक्तिक दृष्टिकोणो मे तुलनात्मक दृष्टि सामन्जस्य नही रहता अथवा असामन्जस्य रहता है।

उपर्युक्त विवेचन को ही एक और ढग से भी देखा जा सकता है। सामाजिक मूल्यो एव सामाजिक दृष्टिकोणो के सामन्जस्य की स्थिति को मतैक्य (consensus) की स्थिति कहा जा सकता है। फिर यह तो बतलाने की आवश्यकता ही नही कि यह मतैक्य की स्थिति सामाजिक सगठन के लिये कितनी महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार सामाजिक मूल्य एवं वैयक्तिक दृष्टिकोण मे असामन्जस्य दूसरे शब्दो मे मतैक्य (consensus) के विभाजन अथवा विशृखलन की ओर ले जाने वाला हो सकता है, जो बहुधा सामाजिक विघटन को जन्म देता है। आधुनिक समाज मे ये तत्त्व एक बड़ी मात्रा मे देखने को मिल रहे हैं।

हम समझते है कि उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि सामाजिक मूल्य (social values) किन अर्थों मे तथा किस रूप मे सामाजिक विघटन को पैदा करते है। अस्तु एक बार फिर ईलियट एव मैरिल के शब्दो मे हम कह सकते हैं कि "इस प्रकार सामाजिक मूल्य अर्थपूर्ण सामाजिक विषय (objects) है। जब इन मूल्यो का विरोध किया जाता है तो सामाजिक विघटन की प्रक्रिया गतिशील हो जाती है।"[1]

(४) सामाजिक सकट (Social Crisis)—यो तो जैसा कि उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट होता है कि सामाजिक विघटन एक मन्दी प्रक्रिया ही है किन्तु फिर भी कभी-कभी सामाजिक विघटन सकट की अवस्थाओ के कारण भी अत्यधिक गतिशील हो जाता है। अब संकट शब्द का अर्थ सामाजिक कार्यों मे बाधा डालने वाली स्थिति है। ईलियट एव मैरिल के अनुसार "सामाजिक सकट को समूह के सामान्य क्रिया कलाप मे आई अइस गम्भीर बाधा के रूप मे परिभाषित किया जा सकता है जो कि नयी स्थितियो के कारण समूह की आदतो, प्रथाओ एव अन्य व्यवहारो मे सामन्जस्य की आवश्यकता पैदा कर

---

1. "Social values are thus meaningful social objects. ..when these values are questioned, social disorganization is in process." —*Elliot & Merril.*

देती है।"[1] यह सामाजिक सकट अनेक वैयक्तिक सकटो को भी जन्म देता है। कहना न होगा कि नयी परिस्थितियो से सफल सामञ्जस्य करने की क्षमता सब मे एक सी नही होती या कहना चाहिये कि सभी मे नही हुआ करती। इस प्रकार एक सामान्य व्यक्ति इस स्थिति मे यह निश्चय नहीं कर पाता कि उसे क्या करना चाहिये और क्या नही। अस्तु विघटन प्रस्तुत रहता है।

आगे इस सकट को भी दो रूपो मे देखा जा सकता है। प्रथम आकस्मिक सकट द्वितीय सचयी सकट। यह दोनो ही प्रकार का सकट विघटन को जन्म देने वाला है।

(i) आकस्मिक सकट (Percipitate Crisis)—जैसा कि आकस्मिक शब्द से ही स्पष्ट है इसमे एकदम समूह की आदतो मे एक जबर्दस्त रोक आती है जिससे सामञ्जस्य तुरन्त ही करना आवश्यक है। अब क्योकि ये इतना शीघ्र ठीक से हो नही पाता इसलिये सामाजिक विघटन वर्तमान हो जाता है। इसके उदाहरण के लिये अकाल, दुर्घटना, महान नेता की मृत्यु, किसी बीमारी का अप्रत्याशित प्रकोप आदि स्थितियाँ बतलाई जा सकती हैं। इन, स्थितियो मे निवारण की कोई भी पूर्ण योजना बनाने लायक समय मिलता नही। परिणामस्वरूप सामाजिक विघटन अपना स्थान बना लेता है।

(ii) संचयी सकट (Cumulative Crisis) -सचयी सकट वह है जो समयावधि मे धीरे-धीरे विकसित होता है। उदाहरणार्थ भारत का पाश्चात्य सस्कृति से सम्पर्क जो कि एक लम्बी अवधि में चलता रहा घर 'प्रेम विवाह' (love marriage) आदि जैसी समस्याओ को जन्म देने के कारण एक संचयी सकट का रूप धारण कर गया है। इसी प्रकार औद्योगिक एव व्यापारिक क्रान्ति जो कि काफी समय से अपनी पृष्ठभूमि तैयार कर रही थी की उपस्थिति आर्थिक व्यवस्था के क्षेत्र मे एक सचयी सकट के रूप मे प्रकट हुई। यहाँ कृषि सम्बन्धी प्रतिमानो का ह्रास प्रारम्भ हुआ, नारी नौकरी के लिये घर से बाहर नगर की ओर आई आदि आदि।

---

1. "A social crisis may be defined as a serious interruption in the usual group activities, which necessitates adjustments in habits, customs, & other group behaviour because of the new situation." —Elliott & Merrill

अध्याय ३

पारिवारिक विघटन-परित्याग एवं तलाक

(Family Disorganization-Desertion & Divorce)

सामाजिक विघटन की प्रक्रिया पारिवारिक विघटन को भी गतिशील बना देती है। परिवार आखिर एक सामाजिक इकाई ही तो है। अस्तु समाज मे प्रस्तुत विघटन परिवार मे भी विघटन को जन्म दे जाता है। इस प्रकार पारिवारिक विघटन भी सामाजिक विघटन का ही एक रूप है।

आगे बढने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक प्रतीत होता है कि परिवार आखिर है क्या। परिवार एक सार्वभौमिक एव आधारभूत सामाजिक संस्था है। मैकाइवर एव पेज (Mac Iver & Page) के शब्दो मे "परिवार यौन सम्बन्धो पर आधारित एक निश्चित समूह है जो बच्चो की उत्पत्ति एव पालन पोषण के लिये स्थित है।"[1] इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि परिवार एक ऐसी संस्था है जो समाज का आधार है।

पारिवारिक संगठन—

अब इसके पहले कि हम पारिवारिक विघटन का अर्थ देखे पारिवारिक संगठन को समझ लेना आवश्यक है। पारिवारिक संगठन वह स्थिति है जिसमे परिवार का प्रत्येक सदस्य अपने प्राप्त किये पद के अनुसार भूमिका अदा कर रहा है। दूसरे शब्दो मे जब परिवार के सभी सदस्य सुखी एव प्रगतिशील जीवन के लक्ष्य को अपने समक्ष रख तदनुसार अपने हित, उद्देश्यो एव आकांक्षाओं मे तादात्म्य की स्थिति प्राप्त कर लेते है तभी पारिवारिक

---

1. "The family is a group defined by sex-relationship sufficiently precise & enduring to provide for the procreation & upbringing of children." —*Mac Iver & Page*

सगठन क्रियाशील होता है। इस प्रकार हम पारिवारिक संगठन के तत्वों को अधोलिखित रूप मे देख सकते हैं—

(१) हितों की एकता (Unity of Interests)—कहना न होगा कि परिवार का प्रत्येक सदस्य सम्पूर्ण परिवार के हित को ही जब अपना हित मान कर चलता है तभी पारिवारिक सगठन की उपस्थिति दृष्टिगत होती है। दूसरे शब्दो मे जब हर सदस्य सभी के सुख मे अपना सुख देखता है तभी पारिवारिक सगठन की स्थिति कही जा सकती है। उदाहरण के लिये माँ बालक के सुख मे ही जब अपना सुख देखती है तो वह इसी स्थिति को चरितार्थ कर रही होती है।

(२) आकांक्षाओं की एकता (Unity of Ambitions)—यहाँ आगे बढने के पूर्व यह बतला देना आवश्यक है कि मनुष्य का मन इच्छाओं का पुञ्ज है। अब परिवार मे आकाक्षाओ की एकता से अर्थ उस स्थिति से है जिसमे कि सदस्य दूसरे की इच्छा के लिये अपनी इच्छा का त्याग कर देते हैं। जब प्रत्येक सदस्य एक दूसरे की इच्छाओं का स्वागत करता है और सीमित साधनों के अनुरूप उन्हे पूरा करने एवं कराने का प्रयत्न करता है वही स्थिति पारिवारिक सगठन की सही स्थिति है। दृष्टान्तवत् जब पत्नी पति की इच्छा को पूरा करने के लिये अथवा पति पत्नी की इच्छा को पूरा कर देने के लिये अपनी इच्छाओ का बलिदान कर देते हैं तो पारवारिक सगठन क्रियाशील रहता है।

(३) उद्देश्यो की एकता (Unity of Objectives)—परिवार के प्रकाश मे उद्देश्यों की एकता से अभिप्राय उस दशा से है जहाँ सभी मसलो पर समस्त सदस्य एकमत होकर विचार करें। सामाजिक सगठन के विषय मे जिसे मतैक्य (consensus) कहा है वही परिवार के सन्दर्भ मे उद्देश्यो की एकता कही जा सकती है। अस्तु इसके अभाव मे पारिवारिक सगठन नही बना रह सकता।

(४) यौन सम्बन्धो का क्षेत्र परिवार तक सीमित (Fulfilment of Sexual Desires in the Family)—परिवार के क्षेत्र मे ही यौन सम्बन्धो की तृप्ति पारिवारिक सगठन की एक अत्यावश्यक दशा है। जब तक यौन सम्बन्धों की पूर्ति केवल परिवार तक ही सीमित रहती है तब तक पारिवारिक संगठन बना रहता है और ज्यो ही इसमे किसी भी प्रकार का

विचलन स्थान पाता है चाहे वह परिवार के किसी सदस्य की ओर से ही पाये; परिवार का सगठन बाधित हो जाता है।

इस प्रकार उपर्युक्त बातो की परिवार मे उपस्थिति पारिवारिक सगठन का लक्षण है। अब यदि हमे पारिवारिक विघटन को समझना है तो हम निस्सदेह कह सकते है कि परिवार के क्षेत्र मे उपर्युक्त बातो की अथवा इनमे से एक या कुछ की अनुपस्थिति ही पारिवारिक विघटन की द्योतक है। ये सारी बाते परस्पर एक दूसरे से इतनी अधिक सम्बन्धित हैं कि इन्हे पृथक् नही किया जा सकता। इनमे से किसी एक की अनुपस्थिति किसी न किसी रूप मे हरेक को प्रभावित करेगी। सक्षेप मे परिवार मे सदस्य के द्वारा मधुर सम्बन्धो की स्थिति ही पारिवारिक सगठन के नाम से पुकारी जाती है। अस्तु, विपरीतत सदस्यो के बीच अमधुर सम्बन्धो की स्थिति पारिवारिक विघटन की स्थिति कही जा सकती है।

पारिवारिक विघटन क्या है ?

पारिवारिक विघटन पारिवारिक सगठन की विपरीत दशा है। मोरर (Mowrer) महोदय के अनुसार "ये पारिवारिक सम्बन्धो का बाधित होना है अर्थात सघर्ष भी एक लम्बी शृखला का चरम रूप है जो कि पारिवारिक एकता को खतरा पैदा करता है। ये सघर्ष किसी भी प्रकार के हो सकते है। इस सघर्षों के अनुक्रम को ही उचित रूप मे पारिवारिक विघटन कहा जा सकता है।"[1] ईलियट एव मैरिल महोदय के मत मे विवाह सम्बन्ध से आबद्ध पति-पत्नी एव बच्चो के बीच होने वाले तनावपूर्ण सम्बन्ध को ही पारिवारिक विघटन कहा जा सकता है। उन्होने पारवारिक विघटन को सामाजिक विघटन का ही सूक्ष्म रूप माना है। यही कारण है कि उनके अनुसार "पारिवारिक विघटन इन सामूहिक सम्बन्धो का ही टूट जाना है।"[2]

---

1. "It is the disruption of the family relationship, however, is but the climax of a long series of conflicts which have threatened the unity of the family. These conflicts may be of any kind. This sequence of conflict may appropriately be called family disorganization." —*Mowrer.*

2. "Family disorganization is the break down of these group relationships." —*Elliot & Merril.*

आगे मार्टिन न्यूमेयर (Martin Neumeyer) के शब्दों में "पारिवारिक विघटन का अर्थ मतैक्य एवं वफादारी का टूट जाना है। इसमें बहुधा पहले स्थापित सम्बन्ध टूट जाते हैं अथवा पारिवारिक मतैक्य का ह्रास होता है एवं अनासक्ति का विकास होता है।"[1] इस प्रकार इन सारी परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो गया होगा कि पारिवारिक विघटन एक ऐसी दशा है जिसमें परिवार के सदस्यों के बीच रहने वाले मधुर सम्बन्धों का स्थान तनावपूर्ण अथवा कटु सम्बन्ध ले लेते हैं।

उपर्युक्त बात को हम एक दूसरी तरह भी कह सकते है। परिवार में हर सदस्य को कुछ पद मिलता है और उससे तदनुसार भूमिका अदा करने की आशा की जाती है। अब यदि इस पद और भूमिका के बीच किसी भी तरह का असमातोलन होता है तो वह पारिवारिक विघटन की स्थिति का प्रतीक है। उदाहरण के लिये पति का एक पद है और तदनुसार उस व्यक्ति से जो इस पद को प्राप्त करता है आशा की जाती है कि वह पद की भूमिका जैसी भी जिस समाज में हो अदा करेगा। अब वह व्यक्ति जो पति का पद प्राप्त करने के उपरान्त तदनुसार भूमिका अदा नहीं करता, वह निस्सन्देह पारिवारिक विघटन को बल देता है। और भी, परिवार में माँ का एक पद है और इस पद के अनुसार प्राप्तकर्त्ता से बालक के समुचित पालन-पोषण की भूमिका की आशा की जाती है। अब यदि माँ इस भूमिका को अदा न करे तो निस्सन्देह यह बात माता और पिता के बीच स्थापित सम्बन्धों के समातोलन को धक्का पहुँचा सकती है जो पारिवारिक विघटन की ओर ले जाने वाला होता है।

बहुधा पारिवारिक विघटन का अर्थ उसके वाह्य प्रकाशन यथा तलाक, परित्याग, (desertion), पृथक्करण (separation) एवं क्रूरतापूर्ण व्यवहार से लिया जाता है। किन्तु वास्तव में यथार्थता कुछ और ही है।

आगे बर्गेस एवं लॉके (Burgess & Locke) महोदय का कहना है कि आज का परिवार अपने संस्थात्मक (institutional) रूप से हटकर

---

1. "Family disorganization means the break down of consensus & loyalty, often the disruption of previous existing relationship or the loss of family consensus & the development of detachment." —*Martin Neumeyer.*

साहचर्यात्मक आधार (companionship basis) की ओर बढ़ रहा है। इसको और अधिक हम एक दूसरी तरह स्पष्ट कर सकते हैं। समाजशास्त्रीय व्याख्या मे दो प्रकार के सम्बन्ध देखे जाते हैं—एक है निरन्तरता के सम्बन्ध (controls of continuty) और दूसरे हैं गतिशीलता के सम्बन्ध (controls of mobility)। निरन्तरता के सम्बन्धो से तात्पर्य उन सम्बन्धों से है जो अविरल एव निश्चित होते है जैसे प्राथमिक समूह मे अथवा परिवार के परम्परागत रूप मे रहने वाले सम्बन्ध। फिर गतिशीलता के सम्बन्धो का तात्पर्य है उन सम्बन्धो से जो अस्थायी होते हैं, क्षणिक होते हैं। अस्तु दूसरे शब्दो मे यह बात परम्परागत परिवार मे आये परिवर्तनो की ओर सकेत कर रही है। एक अर्थ मे यह ठीक भी है। जैसा कि हम प्रारम्भ मे देख ही आये हैं कि पद एव भूमिका मे परिवर्तन-स्वरूप आया असमातोलन विघटन की ओर निर्देशित करता है। अस्तु परिवार के परम्परागत ढाँचे मे आये परिवर्तन पारिवारिक विघटन के लक्षणो के रूप मे देखे जा सकते है।

पारिवारिक परिवर्तन

यही पर उन परिवर्तनो पर भी एक विहगम दृष्टि डाल लेना उपयुक्त है जो परिवार के परम्परागत रूप मे प्रकट हो रहे हैं। गिलिन (Gillin) महोदय ने उन्हे अधोलिखित रूपो मे देखा है—

(१) माता-पिता की नियन्त्रण सत्ता का ह्रास—परम्परागत परिवार मे बालक माता-पिता के नियन्त्रण मे रहता था। अस्तु वहाँ दूसरे शब्दो मे प्रारम्भ से ही उसमे अपनी इच्छाओं का दूसरों के लिये त्याग स्पष्ट परिलक्षित होता है। किन्तु आज जैसा कि स्पष्ट ही है बालक पर माता-पिता का नियन्त्रण शिथिल पड गया है। ऐसा क्यों हुआ है, ये तो हम आगे देखेंगे। किन्तु यहाँ तो इतना ही समझ लेना पर्याप्त है कि परिवार के इस नये रूप मे बालक माता-पिता का अकुशपूर्ण नियन्त्रण स्वीकार करने के लिये राजी नही और इसीलिये माता-पिता भी अपने पक्ष पर उदासीन हो गये हैं।

(२) पारिवारिक सम्बन्धों मे ढिलाई—आज परिवार के नये रूप में न तो वह सम्बन्धो की दृढता ही मिलती है जो परिवार के परम्परागत रूप में मिलती है और न ही उसकी चेतना। दूसरे शब्दो मे आज वैयक्तिकता का तत्त्व अधिक प्रसार पा रहा है जो पारिवारिक हितो, उद्देश्यो एवं आकांक्षाओ की एकरूपता को नष्ट कर रहा है।

(३) परिवार के कार्यों में कटौती—औद्योगिक सभ्यता के विकास के फलस्वरूप आज परिवार के अनेक कार्यों को अन्य सस्थाओं ने हड़प लिया है। परम्परागत परिवार एक आत्म-निर्भर समाज-आर्थिक सस्था थी किन्तु नवीन परिवार लगभग कार्यहीन ही बनता जा रहा है।

(४) सामाजीकरण एवं प्रशिक्षण के कार्य में कमी—बालक का पालन-पोषण एव उसको एक सामाजिक व्यक्ति बनाने का जो कार्य परिवार का आधारभूत एव मौलिक कार्य था आज उसे राज्य एव शिक्षा-सस्थाओं आदि ने जकड लिया है। फलस्वरूप सदस्यो मे घनिष्ट सम्बन्ध के अवसर ही समाप्त हो जाते हैं।

(५) सन्तानोत्पत्ति के कार्य में विचलन—परम्परागत परिवार मे इस सम्बन्ध मे दशा सन्तोषजनक थी। किन्तु आज यौन-सम्बन्धो का क्षेत्र भी अधिक विस्तृत हो गया है और साथ ही परिवार-नियोजन जैसी अनेक बाते सुनने को मिलती है।

(६) विवाह के पवित्र आधार का ह्रास—विवाह ही तो परिवार की प्रथम सीढी है। पहले विवाह एक धार्मिक कृत्य था; अब वह एक सविदा से अधिक कुछ और नही रह गया है।

(७) परिवार के सामाजिक कार्यों में हानि—आज के परिवार पर कोई भी सामाजिक कार्य नही रह गया है। आज के इस जटिलतापूर्ण एव विशेषयुक्त समाज मे परिवार वह आधारभूत सामाजिक इकाई नही रह गया है जैसा कि दुरखाइम (Durkhiem) महोदय ने माना है। ध्यान रहे कि हम सापेक्षिक दृष्टिकोण को लेकर बतला रहे हैं।

(८) अस्थिरता—परिवार की आधारभूत सस्था विवाह के आधार मे परिवर्तन आने के परिणामस्वरूप आज परिवार मे वह स्थिरता नही रह गई है जो परम्परागत परिवार मे थी। परम्परागत परिवार मे उसके टूटने के अवसर लगभग थे ही नही और यदि थे भी तो बहुत ही कम जबकि आधुनिक परिवार की तलाक आदि की दरे इस बात की सूचक है कि आज के परिवार मे कितनी स्थिरता है। इस सम्बन्ध मे जैसा कि प्रारम्भ मे बतलाया ही जा चुका है ये लक्षण तो उसके बाह्य रूप के प्रकाशन हैं। वास्तविकता तो यह है कि पारिवारिक विघटन इन लक्षणो के अदृश्य रहते हुए भी प्रस्तुत रहता है। अनेक परिवार धार्मिक बन्धन के कारण कटु सम्बन्धो के रहते हुए भी बने रह सकते हैं। साथ ही अनेक परिवार बालको के पालन-पोषण

के बंधन में आबद्ध होकर अनिच्छापूर्वक ही बने ही रहते है। इस प्रकार पारिवारिक विघटन की वह सामिग्री जो इन बाह्य चरम रूप के लक्षणों के आधार पर सकलित होती है गलत कही जा सकती है। वास्तव मे पारिवारिक विघटन का सही रूप तो जैसा कि बतलाया ही जा चुका है उन बातो के अभाव मे देखा जा सकता है जो पारिवारिक संगठन के लिये आवश्यक है।

पारिवारिक विघटनों के पहलू

क्रूगर (Krueger) महोदय ने इसके कुछ निश्चित पहलू बतलाये हैं जो अधोलिखित हैं—

(१) उद्देश्यो की एकरूपता की अनुपस्थिति एवं वैयक्तिकता का महत्व।

(२) सहयोग की प्रक्रिया का अवरुद्ध होना।

(३) पारस्परिक सेवाओ की समाप्ति।

(४) पतिपत्नी के बीच होने वाले आन्तरिक मधुर सम्बन्धो का विदारण।

(५) अन्य समूहो के साथ परिवार के सम्बन्धों मे विचलन।

(६) पति-पत्नी के संवेगात्मक दृष्टिकोणो (emotinal attitudes) की प्रकृति का विरोधी हो जाना अथवा उदासीनता की ही वृत्ति का दोनो ओर बल पकड़ जाना।

प्रोफेसर मोरर (Mowrer) ने पारिवारिक विघटन के पहलुओ को चार रूपों में देखा है—आर्थिक, सास्कृतिक, जीवन-यापन की विधि सम्बन्धी और प्रेम एवं यौन सम्बन्धी। यहीं पर यह बतला देना भी अनिवार्य है कि मोरर महोदय ने कहा है कि हर विवाद मे शान्ति (accord) एवं विरोध (discord) का पाया जाना है। यह कोई असाधारण बात नही है। अस्तु जहाँ इन दोनों में सन्तुलित सामञ्जस्य होता है वहाँ सब ठीक चलता है और जहाँ विरोध (discord) बल पकड़ जाता है वही पारिवारिक विघटन प्रस्तुत होता है।

परिवार के परम्परागत ढाँचे मे आये परिवर्तनो का परिणाम हुआ पारिवारिक तनावों का उदय। इसका अर्थ यह नही कि पहले ये तनाव थे ही नहीं। विपरीतत. इसका अर्थ यह है कि तनावो या जो तीव्र रूप आज है एवं साथ ही जितना विशाल क्षेत्र आज है वह सम्भवत. पहले नही था। अस्तु अब पहले हम इन तनावों का रूप देखते है।

पारिवारिक तनाव (Family Tensions)

ईलियट एवं मैरिल महोदय ने पारिवारिक क्षेत्र में होने वाले तनावों को दो रूपो मे देखा है। पहले हैं प्राथमिक तनाव (primary tensions) और दूसरे है द्वैतीयक तनाव (secondary tensions)। प्राथमिक तनाव व्यक्तित्व सम्बन्धी कारको पर बल देते हैं और द्वैतीयक तनाव वे है जो बाह्य कारकों से सम्बन्धित हैं। अब हम दोनो को पृथक् पृथक् कर देखते है।

(अ) प्राथमिक तनाव (Primary Tensions)

(१) विरोधी स्वभाव (Clashing temperaments)—जब पति और पत्नी के स्वभाव विरोधी स्वभाव होते है तो यह स्थिति पारिवारिक तनावों के लिये अत्यन्त उपजाऊ होती है। मान लीजिये पति अन्तर्मुखी (introvert) स्वभाव वाला है और पत्नी का स्वभाव बहिर्मुखी (extrovert) है तो निश्चित है कि उनमे तनाव बना रहेगा।

(२) जीवन का दर्शन (Philosophy of life)—यह बात एक बड़ी हद तक इस बात पर निर्भर करती है कि वास्तव में उन दोनों का जीवन के प्रति क्या दृष्टिकोण है। एक के लिये जीवन केवल खाओ, पिओ और मौज उड़ाओ (Eat, drink & be merry) तक ही सीमित हो सकता है और दूसरे साथी के लिये मानव-जीवन परम पवित्र एव सद् कार्यों के लिये प्राप्त हुआ एक साधन हो सकता है। इस प्रकार हम देखते है कि ऐसी स्थिति मे दोनों का ही जीवन अशान्त हो जायगा।

(३) व्यवहार के वैयक्तिक ढंग (Personal behaviour patterns)—इसमे हम देख सकते हैं कि हर व्यक्ति के कार्य करने के अपने ढग होते हैं। दूसरे शब्दो मे हम इसे उसकी आदत भी कह सकते हैं। अब मान लीजिये कि पति भग पीने की आदत रखता है और पत्नी इसे नापसद करती है तो स्पष्टतः ही यह बात पति और पत्नी के बीच तनाव को जन्म देगी।

(४) यौन सम्बन्धी प्रतिक्रिया (Sex-response)—दोनों साथियों मे किसी एक की ओर से यौन सम्बन्धों मे विशेष रुचि और दूसरे की ओर से उदासीनता पारिवारिक तनावों को जन्म देने मे विशेष योग देती है। दूसरे शब्दों मे इस क्षेत्र मे सन्तुलन का अभाव पारिवारिक तनावों को स्थिति का

स्पष्ट परिलक्षण होता है। यह बात केवल यौन-सम्बन्ध तक ही सीमित न होकर प्रेम की सीमा तक भी विस्तृत है।

(५) मनोव्याधिकीय व्यक्तित्व (Psychopathic Personalities)—यदि दोनो साथियो मे से किसी के भी साथ कोई मानसिक व्याधि होती है तो यह आवश्यक रूप से पारिवारिक तनाव को बल देती है। मान लीजिये कि पति पातक की भावना (guilt-feelings) से ग्रसित है तो यह स्थिति पारिवारिक तनावो को पैदा कर सकती है।

(ब) द्वितीयक तनाव (Secondary Tensions)

आर्थिक (Econom.c)—इस क्षेत्र के तनावो को अधोलिखित रूपो मे देखा जा सकता है—

(१) निर्धनता (Poverty)—निर्धनता वह दशा है जिसमे व्यक्ति अपर्याप्त आय अथवा अबौद्धिक व्यय के कारण अपना एव अपने आश्रितो का पोषण करने मे असमर्थ रहता है। गोडार्ड महोदय के शब्दो मे निर्धनता "उन वस्तुओ की अपर्याप्त पूर्ति (supply) है जो एक व्यक्ति को अपना एव उनका जो स्वास्थ्य एव पुष्टि के लिये उसके आश्रित हैं आवश्यक हैं।"[1] इससे स्पष्ट ही है कि ऐसी स्थिति मे पूरे परिवार मे एक विक्षोभमय वातावरण रहेगा। अस्तु तनिक-तनिक सी बातो पर तनाव प्रस्तुत होगा। बाल अपराधी एव साथ ही अपराधियो का एक बडी सख्या निर्धन परिवारो से ही आती है।[2]

(२) बेरोजगारी (Unemployment)—कहना आवश्यक नही कि रोजगार जिन्दगी का आधार है। रोजगार-हीन व्यक्ति के अपने भी पराये बन जाते हैं। परिणामस्वरूप उस व्यक्ति मे एक ओर तो हीनता की भावना (inferiority complex) बल पकड जाती है और दूसरी ओर उसे हर ओर मे उदासीनता ही नजर आती है। इतना ही नही जब वह इन शब्दो को कि "करने वाला चाहिये काम की क्या कमी है" सुनता है तो वास्तव मे उसे

---

1. "Poverty is, an insufficient supply of those things which are requisite for an individual to maintain himself & those dependent upon him in health & vigour. —*Godard.*

2. इस पुस्तक के प्रथम भाग मे "अपराध के सामान्य कारण" नामक अध्याय मे विस्तार से देखिये।

थायी होकर नही रह सकता। उदाहरण के लिये यातायात विभाग में ड्राइवर व कन्डक्टर, सेना विभाग के अधिकारी, एजेन्ट आदि-आदि इस सबके फलस्वरूप सम्पर्क की दूरी स्थान पाती है जो एक बड़ी हद तक तनावों का आधार बन जाती है। अस्तु इस प्रकार कुछ पेशों के कारण पति-पत्नी के पृथक् रहने में पारिवारिक तनावों को अवसर प्राप्त होता है।

(२) अस्थायी व्यवसाय—जब परिवार का वह सदस्य जो सबका पोषण करता है शीघ्रता से एक पेशे को छोड़ दूसरे को अपनाता है तो यह स्थिति पारिवारिक तनावों के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है। इसका कारण अनुकूलन की समस्या होती है। बर्गेस और कोटरल महोदय ने इस मत को अपने अन्वेषण के द्वारा पुष्टि की है।

(३) व्यवसाय का अरुचिकर होना—अपनी रुचि का व्यवसाय प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति को कुछ थोड़ा सा संतोष रहता है। अब इसके विपरीत यदि व्यक्ति को इच्छित व्यवसाय न मिलकर कोई ऐसा व्यवसाय मिलता है जिसे वह करना नही चाहता किन्तु मजबूरी में करना पड़ता है तो वह स्थिति उस व्यक्ति के स्वभाव पर कुछ अजनबी प्रभाव डालती है जो कि पारिवारिक तनावों को बढ़ावा देता है। मान लीजिये किसी व्यक्ति को अध्यापन कार्य में रुचि है और उसे मिलती है कन्डक्टरी तो वह व्यक्ति हर समय कुछ विक्षुब्ध सा रहता है। परिणामस्वरूप उसका यह विक्षोभ सारे पारिवारिक वातावरण को ही विक्षुब्ध कर डालता है।

(४) कुछ व्यवसायों की तनाव सहायक प्रकृति—कहना न होगा कि कुछ विशिष्ट व्यवसायों की प्रकृति ऐसी होती है कि वह पारिवारिक तनावों को स्वयं उत्तेजित करती है। फिर सांख्यिकीय दृष्टिकोण को अपनाते हुए भी हम कह सकते है कि पारिवारिक तनावों के चरम रूप तलाक आदि की संख्या भी उन्ही पेशों में अधिक प्राप्त होती है। ऐसे व्यवसायों में आते है फिल्म उद्योग और उसमें भी विशेषकर अभिनेता एवं अभिनेत्रियाँ। फिर एजेन्ट्स्, सर्वोज्न, टेलीफोन एवं टेलीग्राफ ऑपरेटर तथा वकीलों आदि का नम्बर आता है। इनमें पारिवारिक तनावों की अधिकता का कारण इनके व्यवसाय की प्रकृति है।

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की विशेषताएँ—हर व्यक्ति अपनी संस्कृति का उत्पादन होता है। साथ ही हर संस्कृति का रूप एक सा ही न होकर पृथक्-पृथक् होता है। अब यदि पति पत्नी दोनों विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों से आर

हैं तो उनमें तनाव की सम्भावनाएं विशेषरूप से वर्तमान होंगी। उदाहरण के लिये यदि एक भारतीय किसी विदेशी लड़की से विवाह करता है तो निस्सन्देह ही उन दोनों के सामने ऐसी अनेक समस्याएं आवेंगी जो अनुकूलन के मार्ग में बाधा होंगी। उदाहरण के लिये मान लीजिये वह विदेशी लड़की मांस खाने की बहुत शौकीन है और वे भारतीय महोदय अपनी प्रथा परम्पराओं के संस्कारवश मांस को पसन्द नहीं करते तो यह स्थिति समय की अवधि में जाकर पारिवारिक तनाव की स्थिति बन जायगी।

(५) पद (Status)—यहाँ हमारा पद से अभिप्राय प्रदत्त (ascribed) पद से न होकर अर्जित (achieved) पद से है। जब दोनों साथियों में से कोई भी एक किसी विशिष्ट अर्जित पद को प्राप्त करने के लिये इतना अधिक व्यस्त एवं उतावला हो जाता है कि वह दूसरे साथी की परवाह ही नहीं करता तो यह स्थिति पारिवारिक तनाव के लिये एक बड़ी उत्पादक स्थिति बन जाती है। विशेषकर तब जब एक साथी अशिक्षित भी हो। उदाहरणार्थ कोई व्यक्ति एक बड़े गजेटेड का पद प्राप्त करने के लिये इच्छुक है। अब इसके लिये काफी कुछ साधना की आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में और सभी ओर से अपना ध्यान हटा पूरी तरह इधर ही ध्यान केन्द्र स्थापित करने की आवश्यकता है। परन्तु ऐसी दशाओं में उसकी पत्नी एवं बच्चे जो कि पति एवं पिता के स्नेह के लिये भूखे हैं के मन में एक प्रकार के विद्रोह की भी भावना घर कर सकती है जो आगे जाकर पारिवारिक तनाव का रूप धारण कर जाती है।

सम्बन्धी समस्याएँ भी महत्त्वपूर्ण हो सकती हैं। अस्तु इसी आधार पर हम तथाकथित प्रेम-विवाहो की भी नीव कमजोर होने की ओर सकेत कर सकते हैं। प्रेम-विवाह बहुधा बौद्धिक परिपक्वता की अनुपस्थिति मे ही स्थान पा जाते है जो बाद मे जाकर अनेक सवेगात्मक समस्याओ को जन्म देते हैं।

(७) दुर्बल स्वास्थ्य—एक लम्बी अवधि तक रहने वाला रोग अथवा दुर्बल स्वास्थ्य पारिवारिक सदस्यो मे एक प्रकार की उदासीनता तथा बीमार के प्रति झुझलाहट आदि को जन्म देता है जो पारिवारिक तनावो मे वृद्धि करती है। इतना ही नही इसके कारण पारिवारिक आय व्यय पर भी प्रभाव पड़ता है जो अनेक प्रकार की समस्याओ को पैदा कर पारिवारिक तनाव को बढाता है।

(८) माता-पिता और सन्तान—यहाँ सन्तान का न होना तो पारिवारिक तनाव के लिये एक महत्त्वपूर्ण दशा है ही साथ ही सन्तान की उपस्थिति भी कई प्रकार से पारिवारिक तनावो को बढावा दे सकती है। बालक के प्रशिक्षण एव स्नेह की मात्रा पर माता-पिता मे विरोध हो सकता है। उदाहरण के लिये पत्नी बच्चो को मारती है और पति की धारणा है कि मारने से बच्चे बिगडते हैं तो ऐसी स्थिति मे दोनो ही ओर से विरोध एव तनाव की स्थिति पैदा हो जाती है। इतना ही नही पत्नी बच्चो से इतनी अधिक लिप्त हो सकती है कि वह पति की ओर अधिक ध्यान देना भूल जाये। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति मे पति महोदय को कुछ गलतफहमी हो सकती है जो पारिवारिक तनाव के लिये एक बडी हद तक उत्तरदायी बन जायगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि माता-पिता तथा सन्तान के सम्बन्ध भी अप्रत्यक्ष रूप मे कई तरह पारिवारिक तनावो को जन्म दे जाते हैं।

(९) ससुराल के सम्बन्धियों का हस्तक्षेप—जब पति-पत्नी के बीच उनके घर वालो के अर्थात माता-पिता आदि के सम्बन्ध बीच मे आ पडते हैं तो तनाव की सम्भावनायें और भी बढ़ जाती हैं। यदि उनके माता-पिता बहू अथवा दामाद की आलोचना करते हैं तथा उनके सम्बन्धो मे हस्तक्षेप करते हैं तो वह पूरी तरह तनाव की स्थिति को बल दे रहे होते हैं। यहाँ हम सास-बहू के झगड़ो आदि की ओर सकेत दे सकते हैं। ध्यान रहे यह बात दोनो ही पक्ष के सम्बन्धियो पर लागू है, किसी एक ही पक्ष के सम्बन्धियो पर ही नही। दोनो पक्षो से यहाँ तात्पर्य पति एव पत्नी के यानी लडका एव लड़की के पक्ष से है। यह स्थिति सयुक्त परिवार प्रणाली मे और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो सकती है।

इस प्रकार यहाँ तक हमने पारिवारिक तनावों का अध्ययन किया। इसे हम एक अर्थ में पारिवारिक विघटन का स्वरूप भी कह सकते है। अब आगे हम देखते हैं कि क्या आधुनिक परिवार मे विघटन की प्रक्रिया गतिशील है।

क्या आधुनिक परिवार विघटन की ओर गतिशील है ? (Is contemporary family in the process of being disorganised)

इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वान पृथक्-पृथक् मत प्रस्तुत करते हैं। कुछ विद्वानो के विचार मे आधुनिक परिवार विघटन की दशा में है और कुछ के अनुसार नही। अस्तु, इस सम्बन्ध में अपना मत रखते हुए हम कह सकते हैं कि आधुनिक परिवार स्पष्टत: विघटन की प्रक्रिया से ग्रसित है। जिन विद्वानो ने आधुनिक परिवार को विघटन की प्रक्रिया मे मानने से इन्कार किया अथवा जो इन्कार करते हैं वे वास्तव मे विघटन शब्द का अर्थ गलत लगाते हैं। जैसा कि हम प्रारम्भ मे देख आये हैं कि मधुर सम्बन्धो के स्थान पर परिवार मे तनावपूर्ण सम्बन्धो की उपस्थिति ही पारिवारिक विघटन है। अस्तु इस परिभाषा के अनुसार हम एक बड़ी हद तक आज के परिवार मे तनावपूर्ण सम्बन्धों की उपस्थिति देखते हैं।

अपनी उपर्युक्त बात को हम अधिक निश्चित करते हुए इस पारिवारिक विघटन को तीनों वर्गों के परिवार मे देख सकते हैं। यदि हम सीमा निर्धारण करे तो उच्च वर्ग का परिवार विघटन की प्रक्रिया मे आगे बढने के लिये प्रथम स्थान पाने का अधिकारी है और मध्यम वर्ग का परिवार द्वितीय तथा निम्न वर्ग का परिवार तृतीय। इस प्रकार कहने का तात्पर्य यह है कि पारिवारिक विघटन अपनी उपर्युक्त परिभाषा के प्रकाश मे निस्सन्देह आज की स्थितियो मे किसी न किसी अंश मे वर्तमान है। इसके लिये हम अधोलिखित बाते देख सकते हैं—

पक्ष के कारण

दो रूपो में देखे जा सकते हैं—(i) सामान्य, (ii) विशिष्ट।

(अ) सामान्य

(१) सामाजिक विघटन एवं पारिवारिक विघटन (Social disorganization & Family disorganization)—परिवार समाज

की आधारभूत इकाई है। अतः समाज के क्षेत्र मे आया असन्तुलन निस्सन्देह ही परिवार के समातोलन को भी प्रभावित करता है। इसे हम दो रूपो मे देख सकते है जो ये है—

(i) सामाजिक मूल्य और पारिवारिक विघटन (Social values & Family disorganization)—कहा ही जा चुका है कि हर समाज के अपने कुछ मूल्य (values) होते है जिन्हे वह अपने अस्तित्व के लिये मंगलकारी मानता है। फिर यहाँ यह भी ध्यान रखना होगा कि समयानुसार इन मूल्यो मे परिवर्तन भी आता है। अस्तु ये मूल्यो की स्थिरता मे गतिशीलता लाने वाली स्थिति ही पारिवारिक विघटन पैदा करने वाली होती है। उदाहरण के लिये कुछ समुदायो मे तलाक को किसी भी प्रकार की सामाजिक मान्यता प्राप्त नही है। दूसरे शब्दो मे तलाक न देना एक मूल्य है। इस प्रकार अनेक स्थितियाँ दोनो साथियो को सामाजिक दबाव के कारण अनिच्छापूर्वक साथ रहना पड़ता है जो कि पारिवारिक तनावो से घिरी हुई होती हैं।

फिर परम्परात्मक मूल्य के अनुसार पुरुष स्त्री पर अपना शासन रखना चाहता है। उसके अनुसार उसे गृह-सेविका के रूप मे ही सुखी रहना चाहिये। किन्तु विपरीततः समाज की बदली हुई दशाओ के कारण स्त्री की समझ मे यह नही आता कि क्यो उसे पति के शासन मे ही रहना चाहिये। दूसरे शब्दो मे वह स्वतन्त्रता एव समान अधिकार की मांग करती है। इतना ही नही वह यह भी नही समझ पाती कि क्यो उसे घर की चाहरदीवारी मे ही घुटते रहना चाहिये। अस्तु परिणामस्वरूप पारिवारिक सामञ्जस्य एक समस्या बन जाती है जो पारिवारिक समातोलन को डांवाडोल बना देती है। यही स्थिति तो पारिवारिक विघटन की स्थिति है जो आज स्पष्ट परिलक्षित हो रही है। अस्तु आवश्यकता इस बात की है कि अन्य सस्थाओ की भांति पारिवारिक सस्था को भी नयी स्थितियो से सामञ्जस्य स्थापित करना चाहिये।

(ii) सामाजिक सरचना एवं पारिवारिक विघटन (Social structure & Family disorganization)—कहना न होगा कि परिवार सामाजिक सरचना मे आने वाले परिवर्तनो से यह स्वतः ही प्रभावित होगा। यही कारण है कि टालकोट पारसन्स (Talcott Parsons) महोदय ने कहा है कि "पारिवारिक विघटन सामाजिक सरचना मे आने वाले परिवर्तनो

से घनिष्ठतया सम्बन्धित है।"[1] अस्तु परिवार की संरचना भी गतिशील हो गई है। ईलियट एवं मैरिल महोदय ने ठीक ही कहा है "विवाह में पद और भूमिका परिवर्तन की प्रक्रिया में गतिशील है। स्थिति कुछ इतनी बदल गई है कि अनेक पूर्व प्रतिमान अब उपयुक्त नहीं रहे। भूमिका प्रतिमान इस प्रकार विघटित हो गये हैं और पारिवारिक समूह आंशिक रूप से टूटता जा रहा है।"[2]

आगे बढ़ने के पूर्व यह भी बतला देना अनिवार्य है कि पहले पारिवारिक संरचना का हर तत्व स्पष्ट एवं निश्चित था। किन्तु आज उसमें अस्पष्टता नजर आने लगी है। ईलियट एवं मेरिल के शब्दों में "पहले पारिवारिक अधिकार और कर्तव्य स्पष्टत: परिभाषित थे। आज परिवार में भूमिकाओं की अनिश्चितता एवं अस्पष्टता का अर्थ है कि अनेक व्यक्ति अपने वैवाहिक कर्तव्यों से अपना सामञ्जस्य नहीं कर पा रहे हैं।"[3]

यहीं पर यह भी बतला देना अनिवार्य है कि पुरुष की अपेक्षा नारी के समक्ष यह स्थिति बड़ी उलझन-पूर्ण है। आज की पत्नी अपनी स्थिति एवं भूमिका के विषय में एक जबर्दस्त उलझन का सामना कर रही है, इसलिये नहीं कि उसमें कोई उत्पत्ति सम्बन्धी अथवा स्वभाव सम्बन्धी दुर्बलता आ गई है बल्कि इसलिये कि उसका व्यवहार पुरुष के व्यवहार की अपेक्षा अधिक कठोरता के साथ बदला है। इस प्रकार आज उसकी भूमिका की आशा के स्वर में और वास्तविक भूमिका में अन्तर आ गया है जो अव्यवस्था को बल दे रहा है।

इस प्रकार आज की पत्नी के समक्ष अनेक कठिन स्थितियाँ हैं जो इस प्रकार व्यवस्थित कर बतलाई जा सकती हैं—

---

1. "Family disorganization is closely related to changes in the social structure." —*Talcot Parsons.*

2. "Status & role in marriage are in process of rapid change ·· . The situation is so altered that many former patterns no longer apply · ·· ··. The role patterns are thus disorganised & the family group partially breaks down." —*Elliot & Merril.*

3. "Formerly family rights & duties were clearly defined. To day the uncertainty & ambiguity of roles in the family mean that many persons are unable to adjust to their marital obligation." —*Elliot & Merril.*

(i) भूमिकाओं की बहुलता (Multiplicity of roles)—आधुनिक पत्नी के समक्ष अनेक भूमिकाएँ हैं और वह यह निर्णय नही कर पा रही है कि कौन सी उसके लिये हितकारी एव उपयुक्त है। परिवार के परम्परात्मक रूप मे उसकी भूमिकाएँ बिल्कुल निश्चित एव स्पष्ट थी किन्तु आधुनिक परिवार मे उसके समक्ष भूमिकाओं की विविधता है। आज अलग-अलग समूह उससे अलग-अलग भूमिकाओं की आशा रख रहे है। व्यापारी वर्ग उसके साथी एव सगिनी के रूप पर बल दे रहा है तो निम्न आर्थिक वर्ग उसके माँ एव कमाई करने वाली भूमिका को महत्वपूर्ण मान रहा है। इसी प्रकार कॉलेज प्रोफेसर अपनी पत्नी को जूनियर स्कॉलर के रूप मे देखना चाहता है। इतना ही नही उस समय तो स्थिति और भी अधिक पेचीदा हो जाती है जब कि एक ही पत्नी से एक ही समय मे एक साथ इन समस्त भूमिकाओं को अदा करने की आशा की जाती है। उदाहरण के लिये, एक पादरी की पत्नी जिसे हर वर्ग के लोगों के सम्पर्क मे आना पडता है तो सभी भूमिकाओं को एक ही साथ अदा करने की आशा की जाती है। इस प्रकार यह स्थिति पारिवारिक विघटन की स्वय-सिद्ध स्थिति है।

(ii) भूमिकाओं से असंतोष (Dissatisfaction with roles)—पहले नारी आधुनिक शिक्षा से दूर थी। परिणामस्वरूप अज्ञानवश वह अपनी भूमिकाओं से सतुष्ट थी। किन्तु आज शिक्षा के फलस्वरूप स्त्री ने अपने पति के समान कार्य करने योग्य स्थिति को प्राप्त कर लिया है। अस्तु नतीजा यह है कि आज वह अपनी परम्परागत स्थिति से सतुष्ट नही। आज वह घर की चाहरदीवारी के भीतर ही बन्द होकर रहने के लिये तैयार नही। दूसरे शब्दो मे वह आज पति के बराबर का स्थान प्राप्त करना चाहती है। इतना ही नही उसको वास्तव मे वे अवसर भी अनेक प्राप्त हैं जिनमे वह जाकर आत्म-निर्भर हो समानता के अधिकार के लिये आवाज बुलन्द करती है। परिणामस्वरूप नारी की यह स्थिति पति महोदय स्वीकार नही करते और फिर विघटन को बढावा मिलता है। कर्कपैट्रिक महोदय ने भी यही कहा है।[1]

---

1. "Many a capable woman with talents fully equal to those of her husband, has gone neurotic living her years as a house wife in envy of the woman who is a marriage partner."

—*Kirkpatrick.*

(iii) भूमिकाओं में संघर्ष (Conflict of roles)—परम्परात्मक परिवारों में स्त्री यदि कोई ऐसी नयी भूमिका अदा करना चाहती है जो कि उस परिवार के परम्परात्मक प्रतिमानों के अनुकूल नहीं है तो ऐसी स्थिति में संघर्ष पैदा हो सकता है, इतना ही नहीं अनेकों पति सत्ता के क्षेत्र में नारी को नहीं आने देना चाहते। फिर पति की धारणानुसार पत्नी का कार्य-क्षेत्र केवल चौका चूल्हे तक ही सीमित हो सकता है जो कि सम्भवत. पत्नी को मान्य न हो। और भी वह पत्नी के माँ बनने के उपरान्त भी उससे संगिनी एवं प्रेमिका की भूमिका की आशा रख सकता है जिसका पूरा कर पाना अब शायद पत्नी के लिये कठिन बन गया हो। इस प्रकार हम देखते हैं कि भूमिकाओं में विरोध या संघर्ष आ गया है जो पारिवारिक तनावों को जन्म देता है। अस्तु ईलियट एवं मैरिल ने ठीक ही कहा है कि "पारिवारिक संघर्ष इस प्रकार बहुधा पत्नी के पद एवं भूमिकाओं की धाराओं के विषय में ही उदित होता है। जहाँ ये धारणायें परस्पर स्वीकृत नहीं है पारिवारिक विघटन प्रस्तुत है।"[1]

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि पारिवारिक विघटन सामाजिक विघटन से किस प्रकार सम्बन्धित है। अब हम प्रस्तुत परिवार के विघटन की प्रक्रिया में गतिशील होने के विशेष कारणों का विश्लेषण करते हैं।

(ब) विशिष्ट

(१) आर्थिक कारक (Economic factors)

इस सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण धारणा औद्योगीकरण की है जिसने कि पारिवारिक विघटन को कई रूपों में गतिशील किया है। अस्तु हम उसे ही विस्तार में देखते है।

औद्योगीकरण—औद्योगिक क्रान्ति (Industrial revolution)—के पूर्व की सामाजिक दशा गृह-उद्योग से संचालित थी। फलस्वरूप परिवार का रूप भी परम्परागत था। उस समय नारी और पुरुष दोनो का ही कार्य-क्षेत्र

1. "Family conflicts thus often revolve about the conceptions of status & role of the wife, where these conceptions do not agree, fan'ly disorganization is imminent."

—*Elliot & Merril.*

उत्पादन केन्द्र हुआ था। पत्नियों की अधीनता एवं असहायता जैसी कोई समस्या नहीं थी। किन्तु औद्योगिक पद्धति के आगमन के उपरान्त समाज में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आया और सारे परम्परागत प्रतिमान डगमगा उठे।

औद्योगीकरण के आधार पर नागरीकरण (urbanization) का विकास हुआ। नारी के समाज में एक आश्चर्यजनक परिवर्तन आया। इस प्रकार इन परिवर्तनों ने पारिवारिक स्थायित्व को कई रूपों में प्रभावित किया। एक ओर तो परिवार के कुछ कार्यों को दूसरी संस्थाओं ने हड़प लिया और दूसरी ओर स्त्री को शिक्षा आदि के सहारे बाहरी रोजगार में जाने के अनेक अवसर प्राप्त हुए। नतीजा यह हुआ कि जैसा कि हम ऊपर देख ही आये हैं नारी के पद एवं भूमिका उलझन की वस्तु बन गये।

पत्नी की आर्थिक निर्भरता, पत्नी की आर्थिक स्वतन्त्रता, माँ का नौकरी करना एवं महिला (lady) के रूप का उदय इस सम्बन्ध में विशेषकर जानने योग्य हैं। इनमें और तो सभी को हम पीछे देख ही आये हैं, अस्तु यहाँ महिला के रूप के उदय (appearance of lady) के विषय में कुछ कहेंगे। यह महिला (lady) का रूप प्राचीन रानी (queen) के रूप से तादात्म्य कर समझा जा सकता है। दूसरे शब्दों में आज की महिला (lady) वह नारी है जो घर का कोई भी कार्य न करेगी और नौकरों पर आधिपत्य रखेगी। इसके साथ ही एक बात उसके विषय में और भी जानना आवश्यक है और वह है उसका भौतिक सज्जा का मोह। अब, कहना न होगा कि इस महिला के रूप के उदय (appearance of lady) ने एक बड़ी हद तक पारिवारिक विघटन को गतिशील बनाया है।

२. राजनैतिक कारक (Political factors)—

इस सम्बन्ध में दो बातें स्मरणीय हैं—

(i) माता-पिता के स्थान का राज्य द्वारा अपहरण (The sovereignty of the state over parents)—राज्य ने अयोग्य माता-पिता की सन्तान को उनसे छुड़ा अपने संरक्षण में स्थान देने की घोषणा की। दूसरे शब्दों में राज्य ने एक 'बड़े माता पिता' (the larger parent)

औद्योगीकरण के कारण पारिवारिक जीवन को अब सामुदायिक सहायता भी प्राप्त नही होती। यहाँ कहना न होगा कि परम्परागत परिवार समुदाय के नियन्त्रण मे थे। जो भी बात पूरे समुदाय को मान्य होती थी परिवार को भी वही माननी होती थी। उदाहरण के लिये यदि तलाक न देना समुदाय को मान्य था तो तलाक देने वाला दण्डित किया जाता था। किन्तु अब यह सामुदायिक पृष्ठभूमि विलुप्त हो गई है। आजकल तनिक सी तुनक-मिजाजी भी तलाक दिला जाती है।

इतना ही नहीं यहाँ हम पड़ोस के प्रभाव का तिरोहित होना भी देख सकते हैं। आज का शहरी वातावरण कुछ इस किस्म का हो गया है कि यहाँ एक व्यक्ति अपने अगले द्वार के पड़ोसी से भी परिचित नही होता। अस्तु यह भी पारिवारिक शिथिलता को जन्म देता है।

(स) स्त्रियो की उच्च शिक्षा (Higher education of women)—पहले स्त्री शिक्षा का प्रसार नही था। स्त्रियों मे शिक्षा का विशेष प्रसार होने का परिणाम यह निकला कि आज नारीवाद (Feminism) आदि जैसी चीजें अस्तित्व मे आई। फलस्वरूप वैवाहिक जीवन मे अनेक बाधाएँ खड़ी हुईं जो पारिवारिक विघटन के लिये विशेष रूप से सहायक बनी।

(द) यौन नैतिकता का परिवर्तित रूप (Changing sexual morality)—कहने की आवश्यकता नहीं कि आज यौन नैतिकता का रूप भी पहला जितना सुदृढ़ नही रहा है। इसके लिये अधिक प्रमाण न देते हुए हम आज की सोसाइटी गर्ल्स एवं कॉल गर्ल्स (society girls & call girls) का ही संकेत दे सकते है। फिर जैसा कि एलिस ने कहा है कि "यौन सम्बन्धी शान्ति के असफल होने पर विवाह का ढाँचा ढहती हुई बालू पर खड़ा होता है।"[1] इस प्रकार हम कह सकते है कि यह भी आज एक बड़ी हद तक पारिवारिक विघटन को बढ़ावा दे रहा है।

(य) व्यापारिक मनोरंजन (Commercialized recreation)—आज भौतिकवादी मूल्यों के बढ़ने के कारण अनेक ऐसे मनोरंजन के साधन चल गये है जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी रूप मे पारिवारिक

---

1. "With failure of sexual harmony, the marriage structure rests on shifting sand." —*Elis, Havlock.*

विघटन को जो पोषित करते रहते हैं। समाज के लिए धनलिप्सा के दुष्प्रभावों का निराकरण करना आवश्यक न होगा।

४ दर्शनशास्त्रीय कारक (Philosophical Factors)

यहाँ हम उन विचारधाराओं को देखेंगे जिन्होंने पारिवारिक विघटन को परोक्ष रूप से उत्तेजना पहुँचाई है। ये अग्रांकित हैं—

(क) विवाह के आधार में परिवर्तन (Change in the basis of marriage) पहले विवाह एक धार्मिक कृत्य (sacrament) माना जाता था किन्तु आज विवाह का यह धार्मिक आधार बदल गया है। विपरीततः आज विवाह को एक संविदा (contract) माना जाने लगा है जो कभी भी तोड़ा जा सकता है। यह पहले धार्मिक आधार की भाँति एक सुदृढ़ बन्धन न होकर एक आसानी से बात में टूट जाने वाला ठेका बन गया है।

(ख) रोमान्स पर आधारित विवाह (Marriages based on romance)—प्रश्न उठता है कि आज के विवाह का आधारभूत प्रयोजन क्या रह गया है। उत्तर-स्वरूप हम यह पाते हैं कि आज विवाह का रूप पहले की भाँति एक समाज-नैतिक रूप नहीं रह गया है बल्कि विपरीततः यह रोमान्स का उपादान बन गया है। मॉरर (Mowrer) महोदय ने रोमान्टिक काम्प्लेक्स (romantic complex) का अच्छा विश्लेषण किया है और बतलाया है कि यह आज के पारिवारिक विघटन के लिये विशेष रूप से उत्तरदायी है। इस रोमान्टिक कॉम्प्लेक्स के बनाने में भौतिक मूल्यों, व्यक्तिवाद एवं प्रचार के साधनों आदि का विशेष महत्त्व है। फिर यह भी न भूल जाना चाहिये कि एक अर्थ में यह बौद्धिक परिपक्वता की अनुपस्थिति का भी परिचायक है। जो कुछ भी हो हमें ईलियट एवं मेरिल की बात बड़ी उपयुक्त लगी "इस प्रकार रोमान्स पर आधारित विवाह रोमान्सपूर्ण तलाक की ओर ले जाता है।"[1]

आगे इसी सम्बन्ध में हम रोमान्स पर आधारित हीरो पूजा (hero worship) की भी चर्चा कर सकते हैं। इतना ही नहीं फेरिस महोदय का तो विचार है कि "रोमान्स पर अवलम्बित स्नेह इस अर्थ में वैयक्तिक भी है

---

1. "Romantic marriage thus leads to romantic divorce."
—*Elliot & Merril.*

कि [illegible] आशाओं, इच्छाओं एवं [illegible] उत्तरदायित्वों के तिरस्कार पर बल देता है।¹ अतः स्पष्ट ही है कि जब विवाह का आधार ही [illegible] तो पारिवारिक संगठन किस आधार पर टिका रहेगा। स्वभावतः ही पारिवारिक विघटन स्थान पाता है।

(ग) भौतिकवाद एवं व्यक्तिवाद (Materialism & Individualism)—औद्योगिक क्रान्ति के जादुई प्रभाव के फलस्वरूप भौतिकवाद एवं व्यक्तिवाद जैसी विचारधाराएँ जिनका एकमात्र अर्थ वैयक्तिक सुख एवं स्वार्थ पर बल देना है महत्त्वपूर्ण हुई। फिर यह तो बतलाने की आवश्यकता ही नहीं कि ये दोनों ही विचारधाराएँ पारिवारिक संगठन की आधार भूत विचारधारा जो स्नेह एवं त्याग से समन्वित है, के विपरीत हैं।

(घ) जन्म निरोध एवं ऐच्छिक पैतृकता (Birth control & Voluntary Parenthood)—आज जन-संख्या की वृद्धि में रोक एवं भौतिक आनन्द से उत्तेजित होकर जन्म निरोध एवं ऐच्छिक पैतृकता जैसी विचारधाराओं को गति मिली है। जन्म निरोध का तात्पर्य यही है कि बच्चे कम से कम पैदा किये जाँय। इसी सम्बन्ध में ऐच्छिक पैतृकता (voluntary parenthood) की धारणा को समझते हुए हम कह सकते हैं कि आज विवाह के पूर्व ही दोनों साथी यह निश्चय कर लेते हैं कि बच्चे पैदा करने हैं या नहीं और यदि करने हैं तो कितने। यहाँ पर हम यह भी बताना नहीं भूलेंगे कि बर्नार्ड शॉ (Bernard Shaw) ने पैतृकता (parenthood) को जीवन-शक्ति (life force) कहकर परिभाषित किया है और कहा है कि उसको दबाया नहीं जाना चाहिये। एक समाजशास्त्रीय सम्प्रदाय तो स्पष्ट एवं दृढ़ प्रतिपादन है कि कोई भी परिवार जिसमें बच्चा नहीं है परिवार कहे जाने का अधिकारी नहीं। खैर हमारा यहाँ अभिप्राय इस बात के विवाद में फँसना नहीं कि बच्चे पैदा किये जायें या नहीं किन्तु हम तो यही कहना चाहते हैं कि जन्म निरोध एवं ऐच्छिक पैत्रिकता के प्रभावस्वरूप पारिवारिक विघटन क्रियाशील होता है।

(ङ) लैंगिकता एक सामाजिक मूल्य बन गई है (Sexuality has become a positive social value)—परम्परागत प्रकाश में

---

1. "Romantic love is also individualistic in specific emphasis on disregarding wishes of other persons & conventional responsibilities." —*Faris.*

यौन सम्बन्ध का प्रयोग सन्तानोत्पत्ति के साध्य को प्राप्त करने के लिये एक साधन के रूप में किया जाता था। किन्तु आज भौतिकता के साम्राज्य के कारण यौन सम्बन्ध स्वयं में ही एक साध्य बन गया है। तो कहने का तात्पर्य यह है कि इस वातावरण से प्रभावित हो विषम लिङ्गियों में स्नेह व साहचर्य अधिक स्वतन्त्र हो गया है। अब यह स्थिति तनिक सी भी गलतफहमी पैदा होने पर पारिवारिक विघटन की ओर ले जाने में रामबाण का काम करती है।

अन्त मे उपर्युक्त समस्त विश्लेषण को ध्यान में रखते हुए हम साधिकार कह सकते हैं कि आधुनिक परिवार में विघटन की प्रक्रिया गतिशील है और इसके लिये तथाकथित कारक विशेषरूप से उत्तरदायी हैं। फेरिस महोदय ने इस स्थिति को अच्छी प्रकार दर्शाया है।[1]

परित्याग एवं तलाक (Desertion & Divorce)—पारिवारिक विघटन का सामान्य रूप उसमें उपस्थित तनाव की स्थितियों से समझा जा सकता है। साथ ही पारिवारिक विघटन का अन्तिम रूप देखने को मिलेगा परित्याग एव तलाक तथा पृथक्करण (separation) की दशा मे। अब शब्दों का क्रमश अर्थ स्पष्ट करते हुए हम कहेगे कि परित्याग वह स्थिति है जब तनावपूर्ण दशाओं के कारण पति पत्नी स्वय ही एक दूसरे का परित्याग कर देते हैं। यह परित्याग स्थायी भी हो सकता है और अस्थायी भी। अब जहाँ तक तलाक का प्रश्न है इसकी परिभाषा देते हुए कहा जा सकता है कि यह विवाह विच्छेद की वह क्रिया है जो पति पत्नी को कानूनन रूप से एक दूसरे से पृथक् रहने की अभिमति से सम्बन्धित है। दूसरे शब्दो मे जब कचहरी मे जाकर पति पत्नी अपने वैवाहिक बन्धनो से मुक्ति प्राप्त करते हैं तब वे तलाक की स्थिति मे गतिमान होते हैं। यही पर एक और शब्द से परिचय पा लेना भी आवश्यक है और वह है पृथक्करण (separation)। पृथक्करण को हम एक अर्थ मे अर्धतलाक की स्थिति के रूप मे समझ सकते हैं। दूसरे शब्दो में पृथक्करण की स्थिति वह स्थिति है जिसमे राज्यनियमों के द्वारा पति पत्नी को सहवास एव सम्भोग की दृष्टि से पृथक् कर दिया जाता

---

1. "They have so transformed the social order that the traditional froms of family could not be maintained and at the same time they have made it difficult for the new equallibrium to become established." *Faris*

है किन्तु फिर भी दोनो पति पत्नी कहलाते हैं। किन्ही-किन्ही राज्यो मे तलाक प्राप्त करने के लिये दोनो साथियो को एक वर्ष तक पृथक्करण की स्थिति मे रहना एक अनिवार्य दशा होती है। इस प्रकार अब तक के विश्लेषण से इन तीनो शब्दो का अर्थ पूरी तरह स्पष्ट हो गया होगा।

कारण एवं तलाक की कानूनी दशाएँ

यहाँ कहना न होगा कि इनके लिये उत्तरदायी कारण वे ही हैं जिनका पारिवारिक विघटन के प्रकाश मे हम अध्ययन कर आये हैं। अस्तु, क्योंकि ये पारवारिक विघटन के चरम एव अन्तिम रूप हैं इसलिये इनके भी आवश्यक कारक वही है, जिनका अध्ययन हम पीछे कर आये हैं। फिर भी इनके विशेष कारणो के विश्लेषण मे हम अधोलिखित बातो को देख सकते हैं। इतना ही नही यहाँ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि ये वे बाते हैं जिनके आधार पर तलाक कानूनन रूप मे दिया जा सकता है।

(१) व्यभिचार (Adultery)—एक साथी के व्यभिचारी होने पर दूसरा साथी उससे वैधरूप मे तलाक प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है।

(२) द्विविवाह (Bigomy)—यह दोनो ही ओर से हो सकता है। द्विपत्नी विवाह वह विवाह होता है जिसमे एक पुरुष के दो पत्नी हो और विपरीतत द्विपति विवाह वह होता है जिसमे एक पत्नी के दो पति हो। इस प्रकार द्विवाह की स्थिति मे एक साथी को तलाक प्राप्त करने का कानूनन अधिकार है। कहना न होगा कि कारणात्मक दृष्टिकोण से यह यौन सम्बन्धो की विशृंखलता एव व्यक्तिवाद पर विशेष रूप से आश्रित है।

(३) क्रूरता (Cruelty)—पति का क्रूरतापूर्ण व्यवहार तलाक का आधार बन सकता है। यह बात विशेषकर नारी और पुरुष की समानतापूर्ण स्थिति के प्रतिष्ठापन के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है।

(४) मदिरापान (Drunkenness)—साथी के शराबी होने पर तथा इस आदतन मदिरापान कर पारिवारिक जनो को कष्ट पहुँचाने की स्थिति की पुष्टि कर तलाक प्राप्त किया जा सकता है। कुछ स्थितियो ने इसे तलाक के लिये आधारभूत कारण के रूप मे स्वीकार नहीं भी किया जा सकता।

(५) परित्याग—यदि दोनो साथी काफी लम्बी अवधि तक इच्छा-

छोड़ कर दूसरे का साथ कर [illegible] तलाक की
मांग की जा सकती।

(६) नपुंसकता (Impotence)—पति के नपुंसकता की स्थिति में दूसरे पक्ष को तलाक मांगने का पूर्ण अधिकार है।

(७) पागलपन (Insanity)—किसी साथी के स्थायी पागलपन के आधार पर तलाक की मांग की जा सकती।

(८) भरण-पोषण न कर सकना (non support)—यदि पति पत्नी का भरण-पोषण करने में समर्थ नहीं तो ऐसी स्थिति में पत्नी को तलाक प्राप्त करने का अधिकार है।

इस प्रकार उपर्युक्त स्थितियों में तलाक प्राप्त किया जा सकता है। इसी प्रकार से दूसरे पक्ष में तलाक के पक्ष में बोलने के लिये तर्क के रूप में जो कहा जाता है। पर हम यह भी नहीं भूल जाना होगा कि वास्तव में उपर्युक्त स्थितियों [illegible] में कुछ [illegible] अधिक जटिल है कि इनमें भी तलाक प्राप्त करना [illegible] होगा दूसरे साथी पर अन्याय करना तथा समाज में अनैतिकता एवं व्यभिचार को बल देना। जो कुछ भी हो यहाँ हमें इस विवाद में नहीं पड़ना है कि तलाक अच्छा है या बुरा! यह किसी भी चीज का अच्छा या बुरा होना वास्तव में उस रीति में निहित होकर उसके देश, काल और परिस्थिति के घेरे में निश्चित होता है। हर युग के अपने कुछ प्रतिमान होते हैं जो युग परिवर्तन के साथ-साथ अपनी महत्ता को भी खो देते हैं। इसलिये हो सकता है कि कभी तलाक प्रथा युग की परिस्थितियों के लिये अच्छी न रही हो और हो सकता है कि आज वह अच्छी बन गई हो। खैर, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि आज यह बात सभी समाजों तक विस्तृत है। ग्रीन महोदय ने भी कहा है कि "तलाक को प्राय: 'सार्वभौमिक मान्यता' मिली हुई है। फिर चाहे कोई समाज इसे सैद्धान्तिक दृष्टि से स्वीकार न करता हो।"[1]

यहीं पर अन्त में यह भी बतला देना अनिवार्य है कि हिन्दू विवाह अधिनियम के द्वारा भारत में भी तलाक प्राप्त करने का अधिकार प्रदान किया गया है।

---

1. "Divorce is almost universally recognised even though no society approves of it in principle." *Green.*

है और मनुष्य बन जाते हैं। पद का अर्थ है समाज में स्थिति।"[1] इस प्रकार व्यक्ति (individual) शरीर-शास्त्रियों एवं मनोवैज्ञानिकों आदि की विषय सामग्री है, समाजशास्त्री की नहीं। मनुष्य (person) अपने समूह एवं गत्यात्मक सम्बन्धों के बीच पला व्यक्ति (individual) है। अतः स्पष्ट है कि कोई भी जीवित मानव प्राणी कुछेक के अपवाद को छोड़ मनुष्य (person) है।

आगे ये मनुष्य (person) की धारणा आने में और भी कई तत्व ऐसे सुझाये हुए हैं जो विघटित व्यवहार के अध्ययन में महत्वपूर्ण हैं। मनुष्य के सामूहिक सम्बन्ध उसके व्यवहार चाहे वह सामान्य हो अथवा बाल अपराधी, की ओर भी बहुत संकेत देते हैं। विलियम हीली (William Healy) वैयक्तिक विघटन का अध्ययन करने वाला प्रथम विचारक था। उसने स्पष्ट कहा" बाल अपराध व अपराध की सम्पूर्ण समस्या का गत्यात्मक केन्द्र हमेशा वैयक्तिक दोषी होगा।"[2] क्योंकि हीली प्राथमिक रूप से एक शरीर-शास्त्री एवं मनोविश्लेषणवादी है इसलिये स्वाभाविक ही है कि वह अपराधी की मनोवैज्ञानिक एवं मनोविश्लेषणात्मक स्थितियों में अधिक रुचि ले।

वैयक्तिक जीवन संगठन

शाब्दिक विश्लेषण के उपरान्त वैयक्तिक विघटन को समझने के लिये वैयक्तिक जीवन सगठन को भी समझ लेना अनिवार्य है। कहना न होगा कि संगठन का अभाव ही विघटन की उपस्थिति का सकेत है। "मनुष्य एक उद्देश्य-शील प्राणी है।"[3] उसके उद्देश्य अपरिभाषित, अनिश्चित एवं अस्पष्ट हो सकते हैं किन्तु जीवन निरुद्देश्य नही हो सकता। अब उन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये प्रत्येक व्यक्ति कुछ योजना बनाता है, अपने जीवन का कुछ सगठन बनाता है। जीवन संगठन (life organization) की परिभाषा देते हुए थॉमस एव जैनिकी (Tnomas & ·Znaniecki) ने कहा है

---

1. "The person is an individual who has status. We come into the world as individuals. We acquire status and become persons. Status means position in Society.

—*Park & Burgess.*

2. "The dynamic centre of the whole problem of delinquency & crime will ever be the individual offender. —*Healy* .

3. "Man is a purposive creature." —*Elliot & Merril.*

"जीवन संगठन को मनोवृत्तियों एवं मूल्यों की उस संरचना के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो कि हर व्यक्ति के सामाजिक अनुभवों से उत्पन्न हुआ है और जिसके द्वारा चेतन या अचेतन रूप से वह अपने आधारभूत लक्ष्यों को प्राप्त करने की आशा करता है।"[1] इस प्रकार एक व्यक्ति का जीवन संगठन उसका मार्ग प्रदर्शन के लिये वह विधान है जो नैतिकता, कानून, सामाजिक सम्बन्ध, धर्म-व्यापार एवं मनोरंजन से सम्बन्धित है। इन्हीं विधानों के द्वारा व्यक्ति यह निश्चित करता है कि वह कौन से कार्य करेगा और कौन से नहीं।

वैयक्तिक विघटन का अर्थ—प्राचीन समय से ही समाज ने उन कुछ विशिष्ट विधियों को जन्म दे रखा है जो समाज स्वीकृत जीवन संगठन की विविधता को दूसरी सन्तति पर लादते हैं। यह प्रक्रिया विभिन्न समाजों में विभिन्न रूपों में स्थान पाती है। औपचारिक अथवा अनौपचारिक किसी भी रूप में व्यक्ति के जीवन संगठन के लिये यही आधारभूत तत्त्व प्रदान करती है। इन सामाजिक प्रभावों के अभाव में मनुष्य एक मनुष्य न बन कर उससे कुछ कम रह जायेगा।

अब व्यक्ति का जीवन संगठन जो कि विशिष्ट मनोवृत्तियों, आदतों और मूल्यों पर आधारित है आवश्यक रूप से समूह के लक्ष्यों के संगठन आदि के साथ सामञ्जस्य करने वाला ही नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति को अपने समूह के अनुरूप बनना सीखना पड़ता है। परिपक्वता की अवस्था (maturity) प्राप्त करने पर व्यक्ति को अपने उद्देश्यों एवं समूह के उद्देश्यों में कुछ अन्तर का आभास होता है। लिपमैन (Lippman) का कहना है कि किसी वस्तु को चाहने का अर्थ उसको प्राप्त कर लेना नहीं है। संतोष का सही मार्ग केवल उसी वस्तु की कामना करना है जो हमारे पास है। इस पर भी तथ्य को न मान कुछ लोगों का कहना है कि वैयक्तिक इच्छाओं एवं सामाजिक लक्ष्यों में अन्तर या विरोध असम्भव है। अतः समाज के विधानों का उल्लंघन करते हुए ऐसे लोग अपने भाग्य को दोष देते हैं तथा समाज के अन्याय को अपने

---

1. "Life organization may be defined as that structure of attitudes and values which has grown out of the social experience of each person and through which consciously or unconsciously, he hopes to realise his basic purposes.

Thomas & Znaniecki.

उद्देश्यो की पूर्ति मे असफल होने के लिये उत्तरदायी मानते हैं। फिर यह विश्वास कर लेने पर कि हर व्यक्ति उनके विरुद्ध है वे सामाजिक नियमो की परवाह नही करते और अपने लिये सामाजिक स्थितियो की पृथक् निजी परिभाषाएँ बनाते है। यही असन्तुलित स्थिति वैयक्तिक विघटन के नाम से पुकारी जाती है।

परिभाषा—उपर्युक्त समस्त विश्लेषण से यह तो स्पष्ट हो ही गया होगा कि वैयक्तिक विघटन उस स्थिति का नाम है जिसमे व्यक्ति समाज के मूल्यो एवं प्रतिमानो को मान्यता नही देता तथा अपने लिये व्यवहार का कोई और ही विधान बना लेता है। ऐसी ही परिभाषा देते हुए मोरर (Mowrer) महोदय ने कहा है "समस्त वैयक्तिक विघटन व्यक्ति की ओर से उस व्यवहार का प्रतिनिधित्व करता है जो संस्कृति-स्वीकृत प्रतिमानो से इस हद तक विचलित होता है जिससे सामाजिक अस्वीकृति को बल मिलता है।"[1] अस्तु स्पष्टत. सामाजिक रीति-रिवाजो से व्यक्ति के व्यवहार का विचलन ही वैयक्तिक विघटन की स्थिति का लक्षण है। आगे लैमर्ट (Lemert) महोदय के अनुसार वैयक्तिक विघटन "वह दशा या प्रक्रिया है जिसमें कि व्यक्ति प्रमुख भूमिका के प्रति अपने व्यवहार को स्थिर नही कर पाया है। उसकी भूमिका का चुनाव उलझन एव विरोधपूर्ण होता है। ऐसा विघटन अस्थायी हो सकता है और निरन्तर भी।"[2] अस्तु व्यक्ति का समाज-अस्वीकृत आचरण ही उसे विघटन की ओर ले जाता है।

वैयक्तिक विघटन के कारण—

(१) व्यक्तिगत मनोवृत्ति एवं सामाजिक मूल्य (Individual attitudes & social values)—जैसा कि सामाजिक विघटन वाले अध्याय मे मनोवृत्ति की व्याख्या करते हुए बतलाया ही जा चुका है कि यह वह

---

1. "All personal disorganization represents behaviour on the part of the individual which deviated from the culturally approved norm to such an extent as arouse social disapproval." *E. R. Mowrer.*

2. "A condition or process in which the persson has not ...lized his behaviour around major role. There is conflict and confusion over his choice of roles. Such disorganization may be transitional or it may be continuous." *E. M. Lemert.*

वृत्ति है जो किसी स्थिति के प्रति कार्य करने की एक विशिष्ट ढग की तत्परता की ओर सकेत कर देती है। अब मूल्यो के विषय मे कहा ही जा चुका है कि ये वे वस्तुएँ हैं जिन्हे समाज कुछ अर्थ एवं मान्यता प्रदान करता है तथा जो समाज के लिये हितकारी मानी जाती हैं। हर व्यक्ति इन मूल्यो का एक आन्तरिक निरूपण (subjective interpretation) देता है और इसलिये उन मूल्यो से उसका सामञ्जस्य किसी हद तक एक विशिष्ट प्रकार का होता है। अपने अतीत के अनुभवो से हर व्यक्ति कुछ मनोवृत्तियाँ अथवा दृष्टिकोण तथा उन मूल्यो के प्रति एक विशिष्ट प्रकार की भी प्रतिक्रिया अर्जित करता है। दूसरे शब्दो मे किसी भी व्यक्ति के बाह्य व्यवहार को सही अर्थों मे समझने के लिये हमे उसके आन्तरिक अनुभवो एव मनोवृत्तियो को समझना आवश्यक है। इस आन्तरिक अध्ययन के अभाव मे बाह्य व्यवहार जो वैयक्तिक विघटन से सम्बन्धित हो सकता है का समझ पाना दुष्कर हो जाता है। यह बात हर क्षेत्र मे सही है चाहे हम आत्महत्या का अध्ययन कर रहे हो या हत्या का, बाल अपराध का विश्लेषण कर रहे हो या वैश्यावृत्ति का। हर केस मे व्यक्ति ने सामूहिक मूल्यो के विरोधी दृष्टिकोणो का अर्जन किया होता है। अस्तु कहा जा सकता है कि जब वैयक्तिक दृष्टिकोण सामाजिक मूल्यो से अपना सामञ्जस्य नही कर पाते हैं तो वैयक्तिक विघटन प्रस्तुत होता है।

अब यहीं पर यह भी बतला देना उचित है कि इन समाज विरोधी दृष्टिकोणो की उत्पत्ति को समझ पाना बडा कठिन है। व्यक्ति स्वय भी बहुधा अपने व्यवहार के पीछे रहने वाली मनोवृत्तियो का बहुत हल्का सा ही ज्ञान रख पाता है। मनोविश्लेषण की विधि ने इस तथ्य का पूर्ण प्रकाशन किया है। उदाहरण के लिये पिता का परिवार त्याग देने का अर्थ उसकी परिवार के प्रति उदासीनता अथवा परिवार के कल्याण की अनिच्छा ही नही है अपितु उसके अन्य उद्वेगो एव सवेगो का सघर्ष भी है। इस प्रकार समाज-विरोधी व्यवहार का कोई भी यथार्थ विश्लेषण बाह्य स्तर के अन्तर मे प्रवेश करने पर ही प्राप्त हो सकता है। विलियम हीली महोदय ने स्पष्ट कहा है कि एक लड़का केवल इसलिये चोरी नही करता क्योंकि वह उस वस्तु को चाहता है अपितु वह इसलिये भी चोरी कर सकता है क्योंकि अपनी माँ के कार्यों मे शर्मिन्दा है और स्वय भी उसके बराबर आना चाहता है। इस प्रकार कहने का तात्पर्य यही है कि सामाजिक व्यवहार को समझने के लिये वैयक्तिक दृष्टिकोणो का ज्ञान रखना अत्यन्त वाञ्छनीय है।

आगे और भी गहराई में जाते हुए कहा जा सकता है कि व्यवहार को बहुत ही पुरानी कठोर नैतिक दृष्टि से देखा जाता है। दूसरे शब्दों में प्रस्तुत विधि-विधानों की अपर्याप्तता एवं कमियों पर ध्यान नही दिया जाता। फलस्वरूप स्थिति को पूरी तरह समझने मे असफलता प्राप्त होती है जो एक बड़ी हद तक वैयक्तिक विघटन के लिये उत्तरदायी है। वास्तव में जैसा कि थॉमस एवं जैनिकी महोदय ने कहा है कि वैयक्तिक विघटन के प्राथमिक कारणो में सबसे बडा कारण इन सामाजिक विधानों एव स्थितियों से उत्पन्न होता है। दूसरे शब्दो मे जब सामाजिक विधान समाज की परिवर्तित स्थितियों के अनुसार अपना रूप नही बनाते तो वैयक्तिक विघटन स्थान पाता है। पुरुष और स्त्रियाँ अस्पष्ट व्यवहार सहिता की आधार-शिला पर अपना जीवन सगठन सफल नही बना पाते। फलस्वरूप ऐसे लोग सामाजिक नियमो का उल्लघन करते हैं जिसके बदले मे उन्हे सामाजिक तिरस्कार का शिकार होना पड़ता है जो वैयक्तिक विघटन की ओर उन्मुख करता है। कहना न होगा कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसे अपने साथियो और मित्रो के स्नेह एव प्रोत्साहन की आवश्यकता रहती है। वह अपने समाज के विधानो का उल्लघन कर सफलता-पूर्वक जीवन व्यतीत नही कर सकता। अस्तु हम कह सकते हैं कि सामाजीकरण की सफलता एवं पर्याप्तता के अभाव मे वह वैयक्तिक विघटन का पात्र बन सकता है। वह जाति से बहिष्कृत हो सकता है, आत्महत्या कर सकता है तथा एक अपराधी और लुटेरा बन सकता है। अत: यह वैयक्तिक दृष्टिकोणों का विकृत पोषण एक बडी हद तक वैयक्तिक विघटन के लिये उत्तरदायी है।

(२) सामाजिक संरचना और वैयक्तिक विघटन (Social structure & Individual disorganization)—इसे कई रूपों मे देखा जा सकता है जो अधोलिखित है—

(1) पद की असुरक्षा की भावना—सामाजिक सरचना का अर्थ स्पष्ट करते हुए हम 'सामाजिक विघटन' वाले अध्याय मे कह ही आये है यह पदो एव भूमिकाओं (Statuses & Roles) से निर्मित है। अब यह पद समाज मे व्यक्ति को ही मिलता है और उसी से तदनुसार उसकी भूमिका अदा करने की आशा की जाती है। किन्तु यहीं पर यह भी नही भूल जाना होगा कि प्रत्येक व्यक्ति समूह मे एक सुरक्षित पद की आवश्यकता महसूस करता है। चाहे वह बालक हो और चाहे वह व्यस्क हरेक सुरक्षा की भावना को प्राप्त करने के लिये निरन्तर प्रयत्नशील है। बालक की अपने परिवार मे स्थिति, उसका स्कूल से सामञ्जस्य, उसका विषम लिंगियों के सम्पर्क मे विकास तथा उसका विवाह

इन सभी विभिन्न समूहों में वह इच्छित पद (status) प्राप्त करने की इच्छा करता है। उसके प्रारम्भिक वर्षों में वह अपने माता पिता से सम्बन्ध के आधार पर पद प्राप्त करता है। आगे जैसे जैसे वह बड़ा होता जाता है उसका पद उसके वैयक्तिक महत्व, तथा उसका रखरखाव, आकर्षण एवं बौद्धिक क्षमता आदि से निर्धारित होता है। बचपन में उसकी सुरक्षा की भावना उस अवस्था में खतरा प्राप्त कर सकती है जो वह अपने परिवार के सदस्यों की तुलना अथवा अपने खेल के साथियों की तुलना में अनुभव करता है। कोई भी ऐसी चीज जिसके प्रभाव से बालक अपने को समूह में अलग समझता शुरू कर देता है चाहे वह शारीरिक हो और चाहे विशिष्ट प्रकार के कपड़े उसको बड़ी निराशा प्रदान करती है और उसके मानसिक सन्तुलन को विचलित कर देती है। फलस्वरूप वैयक्तिक विघटन के अवसर पैदा हो जाते है।

जिस प्रकार बचपन में व्यक्ति अपने पारिवारिक सदस्यों आदि की तुलना में अपनी सुरक्षा को घाट प्राप्त हुए देखता है उसी प्रकार वयस्क होने पर वह अपने कार्य के साथियों एवं अन्य मित्रों की तुलना में अपनी सुरक्षा की हानि के भय से ग्रसित हो सकता है। व्यक्ति की अपने को समूह का एक आवश्यक अंग समझने की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता एक ऐसा तथ्य है जिसको संवेगात्मक जटिलता (emotional complexity) के प्रकाश में अभी समझा गया है। एक स्थिर एवं संगठित समाज में एकीकरण (integration) जीवन की सामान्य प्रक्रिया का एक अंग है और एक औसत व्यक्ति अपने पद एवं भूमिकाओं का बिना किसी विशेष कठिनाई के पालन कर लेता है। एक विघटित समाज में विभिन्न समूहों की विविध विरोधी मांगों के समक्ष उस एकीकरण (integration) अथवा तादात्मीकरण (indentification) को स्थापित करने में अनेक कठिनाइयाँ पैदा होती है। इस प्रकार एक विघटित समाज की संरचना व्यक्ति की सुरक्षा की खोज को जटिल बना देती है।

(ii) सामाजिक विघटन और वैयक्तिक विघटन - यहीं पर यह भी बतला देना अनिवार्य है कि जो एक गत्यात्मक शक्ति (dynamic force) सामाजिक विघटन को जन्म देती है, वही वैयक्तिक विघटन के लिये भी उत्तरदायी है। राल्फ क्रैमर (Ralf Kramer) महोदय ने कहा है कि व्यक्ति समाज के नाटक में अभिनेता है और उनके सम्बन्ध वे बन्धन हैं जो उन्हे बाँधे हुए हैं। अब क्योंकि सामाजिक विघटन का अर्थ सम्बन्धों का टूट जाना है अतः अभिनेता जो कि इन सम्बन्धों से आबद्ध हैं भी स्वाभाविक रूप से ही

इस प्रक्रिया में सम्मिलित हैं और इस प्रकार विघटन के शिकार बनते हैं "इसलिये एक विघटित समाज उन व्यक्तियो से निर्मित है जिनके जीवन भ न्यूनाधिक रूप मे विघटित है।"[1] जब पुरातन सामाजिक मूल्यों की आलोचन की जाती है अनेक व्यक्ति वैयक्तिक संगठन को खोते हुए नजर आते हैं।

यही पर यह भी कह देना अनावश्यक न होगा कि वैयक्तिक विघट और सामाजिक विघटन एक घेरे मे कार्य करते हैं। विघटित व्यक्ति अप व्यवहार से दूसरे लोगो को प्रभावित कर और भी अधिक विघटन को जन देता है। कोई भी व्यक्ति शून्य में नही रहता। हर व्यक्ति सामाजिक सम्बन्ध में रहता है। अस्तु वह अनेक लोगो को प्रभावित करता है। एक विघटित व्यक्ति अपनी भूमिका को सही एवं प्रत्याशित रूप में नही निभा सकता जो स्वभावत दूसरे लोगो के पद एव भूमिकाओ मे भी असन्तुलन पैदा करता है। उदाहरण के लिये एक उन्मादी (neurotic) पत्नी अपनी भूमिका को ठीक से अदा न कर पाने के कारण अपने पति एव बालकों के जीवन को भी विघटित बना सकती है।

(iii) पदों और भूमिकाओं की विविधता—पदो और भूमिकाओ की बहुलता भी एक बडी हद तक वैयक्तिक विघटन का जन्म देती है। ऐसी स्थिति मे व्यक्ति अपने जीवन सगठन की एकता को नही बनाये रख पाता। दूसरे शब्दो मे व्यक्ति यह निश्चित नही कर पाता कि समाज उससे किस भूमिका की आशा कर रहा है। एक भावुक व्यक्ति इस प्रकार अपने पद और भूमिका पर अविश्वास कर सकता है और वैयक्तिक सगठन को भग कर सकता है। उसका विश्वास अवाञ्छनीय वार्ता की ओर खिंच सकता है और ऐसी दशाओ में व्यक्ति केवल सुख प्राप्त करने को ही अपने जीवन का लक्ष्य बना सकता है। स्पष्ट ही है कि भौतिक सुख को ही जीवन का लक्ष्य मान कर चलने वाले व्यक्ति के विघटन के अनेक अवसर बने रहते हैं।

(iv) शारीरिक एव मानसिक दोष—फिर व्यक्ति की कुछ अपनी शारीरिक एव मानसिक दुर्बलताएँ भी समाज मे उसकी भूमिका को असतुष्ट बना सकती हैं। ऐसा विशेषरूप से व्यवहार की सामाजिक परिभाषाओं पर ही निर्भर है। एक व्यक्ति जो अन्धा है अथवा मानसिक दुर्बलता से ग्रसित है

1. "A disorganized society therefore is composed of individuals whose lives are also more or less disorganized." —*Elliot & Merril.*

[illegible] वैयक्तिक विघटन का विचार है वह सामाजिक संरचना [illegible] (adjustment) करने के लिए [illegible] है। केवल इतना ही नहीं [illegible] परिस्थितियाँ [illegible] और [illegible] भी अपनी भूमिका को [illegible] करने में [illegible] की [illegible] (conformity complex) [illegible] की [illegible] है। इस प्रकार व्यक्ति की प्राणिशास्त्रीय सम्पत्ति [illegible] उसकी सामाजिक संरचना की माँगों से [illegible] की योग्यता को प्रभावित करती है।[1]

जैसा कि पहले ही संकेत किया जा चुका है हमारे व्यवहार का औचित्य अथवा अनौचित्य एक बड़ी हद तक सामाजिक परिभाषाओं से निश्चित होता है। व्यक्ति अपने मन में यह विश्वास रख सकता है कि वह अपने पद से प्रत्याशित व्यवहार को ही पूरी तरह अपना रहा है किन्तु समाज की दृष्टि में वह गलत हो सकता है। अपने अतीत के अनुभव के आधार पर प्रत्येक समाज ने कुछ व्यवहार प्रतिमानों को सामान्य (normal) कहा है और कुछ को असामान्य (abnormal)। सामान्य व्यवहार मध्यम मार्ग से सम्बन्धित है। इसी आधार पर समाज हर व्यक्ति के व्यवहार पर बराबर नज़र रखता है। अब एक माता पिता को यदि सामान्य (normal) व्यक्ति की श्रेणी में आना है तो न तो उन्हें अपने बालक को अधिक ही प्यार करना चाहिये और न ही कम। लेकिन फिर भी जैसा कि राल्फ लिंटन (Ralf Linton) ने कहा है कि हम किसी न किसी रूप में समाज द्वारा निश्चित अपनी भूमिका को अदा करने में असफल सिद्ध होते हैं। कोई भी पूरी तरह मध्यम मार्ग को नहीं अपना पाता जो कि सामान्य (normal) व्यवहार की कसौटी है। फिर जैसा कि इलियट और मैरिल ने कहा है कि "वैयक्तिक विघटन की माप उस मात्रा के द्वारा की जाती है जितना कि व्यक्ति समाज स्वीकृत प्रतिमानों से दूर हटता है।"[2]

---

1. Inequalities in an individual's biological inheritance or in his cultural heritage thus affect his ability to make a satisfactory adjustment to the demands of this social structure."

Elliot and Merril.

2. "Personal disorganization is measured roughly by the degree to which the individual departs from the socially accepted norms."

Elliot & Merril.

(v) पदों और भूमिकाओं में असंगति—हमारे समाज की जटिलता भी वैयक्तिक विघटन के लिये बहुत कुछ जिम्मेदार है। अनेकों पद ऐसे है जिनकी भूमिका उनसे संगति नही खाती। अस्तु आज व्यक्ति बिल्कुल ही नयी तथा बहुत कुछ उलझी हुई स्थितियों से झगड़ रहा है जिनके लिये कि कोई स्वीकृत भूमिका ही नही है। उदाहरण के लिये पूँजीवादी का एक पद है। अब अपने स्वार्थ को ध्यान में रखते हुए तो वह गरीब मजदूरों का शोषण करने को उचित समझ सकता है। किन्तु नैतिक एवं धार्मिक स्थितियाँ तथा प्रतिमान उसे वैसा करने के लिये निषेध करते है। इस प्रकार वह समझ नही पाता कि उसकी वास्तव मे भूमिका क्या है। लिंटन महोदय ने इस बात को बड़ी अच्छी तरह कहा है—"व्यक्ति अपने को बहुधा ऐसी स्थितियों के समक्ष पाता है जिनमे कि वह दोनों के ही पद और कार्यों के विषय मे अनिश्चित है—अपने और साथ ही दूसरो के भी।"[1] इस प्रकार नयी स्थितियो की माँग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और व्यक्ति को एक न एक भूमिका चुननी पड़ती है। लेकिन वह बहुधा अपने चुनाव की बौद्धिकता के विषय मे अनिश्चित है। साथ ही वह इस बात के विषय में भी कभी निश्चित नही हो सकता कि लोग उसके व्यवहार के प्रति वही प्रतिक्रिया करेंगे जिसकी कि वह आशा रख रहा है। यह स्थिति सामाजिक सम्बन्धों के बीच एक गहरी असुरक्षा को जन्म देती है। फलस्वरूप निराशा एव विक्षोभ को जन्म मिलता है जो एक बड़ी हद तक वैयक्तिक विघटन के लक्षण एव चालक है।

इस प्रकार हम देखते है कि सामाजिक सरचना अपने उपर्युक्त समस्त रूपो में बहुत कुछ वैयक्तिक विघटन के लिये उत्तरदायी है।

(३) संकट और वैयक्तिक विघटन (Crisis & Personal Disorganization)—सकट का अर्थ हम सामाजिक विघटन वाले अध्याय मे देख ही आये हैं। वैयक्तिक विघटन के सम्बन्ध मे सकट की व्याख्या करते हुए कहा जा सकता है कि यह वह स्थिति है, जबकि व्यक्ति अपने जीवन सगठन की पुर्नसामञ्जस्य की समस्या का मुकाबिला करता है। इसे हम दूसरे शब्दों मे वैयक्तिक सकट के नाम से पुकार सकते हैं। अब इस वैयक्तिक

1. "The individual...finds himself frequently confronted by situations in which he is uncertain both of his own statuses and roles and of those of others." *Ralf Linton.*

सकट को भी सामाजिक सकट की भाँति दो रूपो मे देखा जा सकता है—आकस्मिक (precipitate), सचयी (cumulative)। किसी भी रूप में हो यह वास्तव मे आदत-प्रतिमानो को बाधा पहुँचाने वाली कोई घटना होती है।

कहना न होगा कि जब जीवन सरलतया चलता रहता है तो सामञ्जस्य मे कठिनाई उत्पन्न नही होती। किन्तु ज्यो ही कोई सकट आता है व्यक्ति के समक्ष सतोषप्रद सामञ्जस्य की समस्या उपस्थित हो जाती है। अब इस सामञ्जस्य की प्रक्रिया मे आने वाली कठिनाई ही वैयक्तिक विघटन की प्रतीक होती है।

सर्वप्रथम आकस्मिक सकट की व्याख्या देते हुए हम कह सकते हैं कि परिवार के किसी स्नेही सदस्य की मृत्यु अन्य पारिवारिक जनो के प्रति एक आकस्मिक वैयक्तिक सकट की स्थिति लाकर खडी कर देती है। परिवार के सदस्यो को उसकी उपस्थिति मे बनी हुई आदतो में परिवर्तन करना पड सकता है जो वैयक्तिक विघटन को जन्म दे सकता है। समस्या उस समय और भी जटिल एव भयकर बन जाती है जब कि परिवार मे कमाने वाले सदस्य की ही मृत्यु हो जाय। ऐसी स्थिति मे माँ उद्योग में काम करने के लिये बाध्य हो जाती है और साथ ही बच्चो को गलियो मे अखबार बेचने पडते है। इसी प्रकार दूसरी ओर माँ की यकायक मृत्यु हो जाने पर माता का सारा उत्तर-दायित्व पिता के ऊपर आ जाता है अर्थात् पिता को माँ के कार्यों का भी पालन करना पडता है। अब ऐसा कर पाने की अयोग्यता अथवा असमर्थता बहुधा मानसिक विक्षोभ एव असन्तुलन के कारण वैयक्तिक विघटन को बल दे सकती है। और भी अधिक विश्लेषण करते हुए हम कह सकते हैं कि यदि किसी लखपती के घर डाका पड जाय और उसके घर मे खाने तक को भी कुछ न रहे तो निस्सन्देह यह एक वैयक्तिक सकट का उदाहरण होगा जो उसके वैयक्तिक विघटन की सम्भावना पैदा कर देता है।

अब सचयी सकट वह है जो धीरे-धीरे बढ़ते-बढ़ते एक व्यापक रूप धारण कर व्यक्ति की आदतो मे परिवर्तन उत्पन्न कर देने की क्षमता रखता है। उदाहरण के लिये पति पत्नी का मनमुटाव जो समय के साथ-साथ बढ़ता जाता है एक स्थिति मे जाकर तलाक, पृथक्करण या परित्याग की नौबत ला देता है जो वैयक्तिक विघटन की आधार होती है। इस प्रकार वैयक्तिक सकट अपने इन दोनो रूपो मे वैयक्तिक विघटन को गति देता है।

वैयक्तिक विघटन के रूप (Forms of Individual Disorganization)

वैयक्तिक विघटन के रूपों के विषय मे अधिक विस्तार मे न जाकर हम यही कहेगे कि यह बाल अपराध, अपराध, मद्यपान, मानसिक दुर्बलता, पागलपन, यौन अपराध, वेश्यावृत्ति तथा आत्महत्या आदि के रूप मे प्रकाशित होता है। यहाँ यह भी नही भूल जाना होगा कि यह वैयक्तिक विघटन के चरम रूप है। वैसे वैयक्तिक विघटन के ये सारे रूप किसी न किसी ढग मे व्यक्ति के सतोषप्रद जीवन संगठन प्राप्त करने की अयोग्यता के प्रतीक है। इनमे भी आत्महत्या वैयक्तिक विघटन का तीव्रतम रूप है जो बहुत ही कम देखने को मिलता है। वैसे इन सभी का विशद विश्लेषण अगले अध्यायों मे देखने को मिलेगा। हाँ प्रथम दो रूपो का अध्ययन इस पुस्तक के प्रथम भाग मे देखने को मिलेगा।

अध्याय ५

वेश्यावृत्ति

(Prostitution)

समस्या विकास की पहली सीढ़ी है। मनोवैज्ञानिक तथ्यों के प्रकाश में कहा जा सकता है कि चिन्तन जो कि मानव की ही विशेषता है का आधारभूत उद्गम समस्या ही है। यदि मनुष्य के समक्ष कोई समस्या न आये तो उसे विचार करने की कोई आवश्यकता ही न रह जाये। दृष्टान्तवत् यदि पेन खोया ही नहीं है तो खोजने की समस्या का प्रश्न ही नहीं उठता। अस्तु कहना ही पड़ेगा कि समस्या विकास की आवश्यक दशा है। इसी कड़ी में हम कह सकते हैं कि वेश्यावृत्ति जो कि एक समाजनैतिक समस्या है दूसरे अर्थ में विकास का आवाहन है। इस समस्या का उचित हल मिलने पर स्वभावतः ही नैतिकता का उत्थान होगा और विकास के प्रतीक्षित द्वार खुलेंगे।

वेश्यावृत्ति क्या है ?

सामान्य भाषा में कहा जा सकता है कि पैसों पर चलने वाला अवैध यौन सम्बन्ध (sexual inter-course) वेश्यावृत्ति है। किंतु बात यहीं खत्म नहीं हो जाती। इसमें अनेक जटिलताएँ पैदा होती हैं जो इस प्रकार हैं। प्रथम एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कठिनाई है तटवर्ती वेश्यावृत्ति (marginal-prostitution) की। प्रश्न उठता है कि कभी-कभी जो लड़की लड़कों से आपस में पैसे देकर यौन-सम्बन्ध हो जाता है जिसे हमने तटवर्ती वेश्यावृत्ति (marginal prostitution) कहा है उसमें और जिसे वेश्यावृत्ति कहा जाता है उसमें क्या कोई अन्तर है ? अगर है तो आप तटवर्ती वेश्यावृत्ति को वेश्यावृत्ति मानेंगे या नहीं? द्वितीय उलझन है गुप्त वेश्यावृत्ति (clandestine prostitution) की। गुप्त वेश्यावृत्ति से हमारा तात्पर्य उस अवैध यौन

सम्बन्ध से है जो होटलों आदि में आवश्यकता पर उपस्थित लड़कियों (call girls) के साथ होता है। यहाँ भी वही समस्या है कि इसमें और वेश्यावृत्ति में क्या अन्तर है, और इसे वेश्यावृत्ति कहा जा सकता है या नहीं ? फिर तीसरी और अंतिम मुश्किल पैदा होती है छद्मवेषी वेश्यावृत्ति (camouflage) के साथ। इसका तात्पर्य उस दशा से है जिसमें कि वाह्य रूप में तो उन्होंने अपने को नाचने गाने वाली घोषित कर रखा है किन्तु गुप्त रूप में पेशा करती हैं— आखिर यहाँ भी यही प्रश्न है कि इसमें और वेश्यावृत्ति में क्या अन्तर हैं ? फिर इसे वेश्यावृत्ति मानते हैं या नहीं ? अस्तु आगे बढ़ने से पूर्व आवश्यकता है इसकी निश्चित परिभाषा की। इस सम्बन्ध में Flexuer महोदय की परिभाषा उद्धरणीय है—"वेश्यावृत्ति वह यौन-सम्बन्ध है जो खरीद, संकरता तथा संवेगात्मक उदासीनता के अर्थ में समझाया जा सकता है।"[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि इस परिभाषा में तीन तत्त्वों पर विशेष बल है। जहाँ तक यौन-सम्बन्ध का प्रश्न है यह इसकी पूर्व मान्य दशा है। शेष तीन तत्त्वों में पहला है पैसे से खरीदना (barter), दूसरा है संकरता (promiscuity) और तीसरा संवेगात्मक उदासीनता (emotional indifference)। यदि हम इन तीनों तत्त्वों का विश्लेषण करें तो पहले का तात्पर्य है कि रुपया या वस्तु के रूप में कुछ देकर ही यह सम्बन्ध सम्भव है। इसके अनुसार किसी स्त्री के साथ बिना पैसे व कोई वस्तु दिये, अवैध यौन सम्बन्ध इस श्रेणी में नहीं आता। दूसरे तत्त्व संकरता (promiscuity) का संकेत कुछ आदिकालीन पशुवत यौन-सम्बन्ध की ओर है। यहाँ जाति, आयु, धर्म, सम्प्रदाय आदि का कोई बन्धन नहीं रहता। इस प्रकार पति पत्नी के यौन-सम्बन्ध में और इसमें यह अन्तर करता है। तीसरे और भी परम् महत्त्वपूर्ण तत्त्व—संवेगात्मक उदासीनता का आशय है प्रेम का अभाव, स्पष्टत. ही बहुधा दोनों ओर ही स्नेह का लगाव जैसी कोई चीज न होकर केवल यौन-इच्छा की तृप्ति एवं जीविकोपार्जन जैसी वृत्तियाँ ही महत्त्वपूर्ण होती है। इस प्रकार प्रेमी और प्रेयसी का यौन-सम्बन्ध इस वर्ग में नहीं आता।

यहाँ पर स्पष्ट कर देना मेरे विचार से परमावश्क है कि प्रेम (love) और पिपासा (lust) दो पृथक-पृथक बातें है। भूल नहीं जाना चाहिये कि प्रेम में भी पिपासा का तत्त्व विद्यमान रहता है, किन्तु प्रेम पिपासा से कुछ

---

1. "Prohibition is sexual inter-course characterised by barter, promiscuity and emotional indifference." *Flexur.*

[illegible] है, किन्तु वासना है एवं अपवित्र होता है। इसीलिये मैंने एक जगह [illegible] भी है।¹ इस प्रकार निश्चय रूप से वेश्यावृत्ति में जितना वासना होती है न कि प्रेम। अस्तु यह तो रहा Flexner महोदय का मत।

इस विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिये इस सम्बन्ध में हम सामाजिक एवं नैतिक स्वास्थ्य सलाहकार समिति (Social & Moral Hygiene Advisory Committee) का मत देते हैं। इस समिति के अनुसार वेश्यावृत्ति का एक दूसरा पहलू व्यावसायिक भी है—

(१) बन्दोबस्त करने वाले (Procurer)—ये वो पुरुष अथवा नारी होती है जिनका काम वेश्यावृत्ति को बनाये रखने (अपनाने) के लिये लड़कियों एवं स्त्रियों का बन्दोबस्त करना होता है। ये लोग उन वेश्याओं को जिनका आकर्षण समाप्त हो जाता है, हटाकर उनके स्थान पर नई जिन्दगियों को सार्वजनिक बनाते हैं। ऐसी स्त्रियाँ बहुधा शहर की गन्दी बस्तियों आदि में मिल जाती हैं। बहुधा वे वेश्याएँ जो अपने कमजोर स्वास्थ्य एवं आयु की अधिकता के कारण यह वृत्ति छोड़ देती हैं वे ही बन्दोबस्त करने वाली बन जाती हैं।

(२) वेश्यालय रखने वाले (The brothel keeper)—ये लोग भारत के दक्षिणी भाग में 'घर वाली', (ghar wali) तथा उत्तरी भाग में नायका (naika) कहलाती है। बहुधा ये स्त्रियाँ ही होती हैं। इनका काम नई आने वाली फँसाई हुई लड़कियों को निवास देना, उन्हें कर्ज देकर हर आवश्यक वस्तु का प्रबन्ध कराना तथा बीमारी आदि के समय डाक्टर की सेवा दिलाना आदि ऐसी ही अनेकों समस्याओं में सहायता करना होता है। बहुधा ये स्त्रियाँ उन लड़कियों की आधी कमाई का उनसे अपने लिये ले लेती हैं। इन्दौर में पुरुष भी वेश्यालय रखने वाले (brothel keeper) मिलते हैं।

(३) दलाल (The pimp)– इनका काम जैसा कि स्पष्ट है ही, प्रत्येक वेश्यालय को उपयुक्त ग्राहक लाना होता है। ये भी स्त्री एवं पुरुष दोनों ही होते हैं। समिति ने इनका विवरण वास्तव में उद्धरणीय शब्दों में दिया है।² ये लोग रिक्शा चालक, तांगे वाले आदि जैसे होते हैं।

1. "Love is high, love is god like and lust is but only its dust."

2. "The pimp—advertise the charms of the inmates of special houses, and tempt the footsteps of those men who need entertainment to ceraın specific houses." *Committee.*

(४) मकान मालिक (The land lord)—जगह के मालिक इस सम्बन्ध में विचारणीय हैं। वे मांग किराये में अत्यधिक ऊँचे दाम वसू करते हैं और उनकी कमाई का एक बड़ा हिस्सा हथिया लेते हैं।

अतः स्पष्ट है कि वेश्या के साथ-साथ इतने व्यक्ति भी इस वृत्ति सम्मिलित होते हैं। इस प्रकार हमने वेश्यावृत्ति का अर्थ दो रूपों में देख (समझा) पहला है वृत्ति का आन्तरिक पहलू, दूसरा है बाह्य। किन्तु आवश्य दोनों ही हैं।

वेश्यावृत्ति के कारण (Causes of prostitution)—कहना न होगा कि वेश्यावृत्ति वैयक्तिक विघटन का परम् निकृष्ट एवं अत्यन्त पतित रूप है। मानव के समाज व्याधिकीय (sociopathic) व्यवहार की यह चरम स्थिति है। मानव किस हद तक पतित हो सकता है, इस बात का पुष्ट प्रमाण है। खैर, यहाँ भूल नहीं जाना होगा कि वेश्यावृत्ति द्विपथगामी प्रक्रिया (two way process) है। कहने का आशय यह है कि इसके कारणों के विश्लेषण में हमें ध्यान रखना होगा कि केवल नारी ही नहीं अपितु पुरुष भी उसी हद तक समान रूप से इस दोषमयी व्यवस्था के लिये उत्तरदायी है।[1]

अत इससे पहले कि हम नारी की दोषपूर्ण कमजोरी का उद्घाटन करें, पुरुष महोदय के विषय में कुछ लेखा-जोखा ले लेना आवश्यक है।

वेश्यावृत्ति का प्रतिमानीकरण (Patternisation of prostitution)—जैसा कि संकेत दिया ही जा चुका है यहाँ हमें देखना है कि पुरुष का अनुदान इसमें कहाँ तक रहता है। इसलिये हमें यह देखना होगा कि कैसे व्यक्ति इस वृत्ति में अधिक फँसते हैं। श्री Lemert ने इस सम्बन्ध में तीन प्रकार के पुरुषों का हवाला दिया है जो अधोलिखित हैं—

(१) ऐसे व्यक्ति जो कुछ या अधिक दिनो तक परिस्थितियों वश वैधानिक यौन सम्बन्ध करने मे असमर्थ रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों मे आते हैं स्थानान्तरित व्यक्ति (migratory), अस्थायी मजदूर (casual labour) सिपाही एवं सैनिक, रिक्शा चालक, ठेला चालक, तथा व्यापारी, एजेन्ट आदि।

---

1. "It is frequently maintained that no approach can be made to the subject of prostitution of women withont the man who come forward as the customers.." *By D. S. Mohli.*

(२) ऐसे व्यक्ति होते हैं जो अपनी बदसूरती (ugliness) अथवा किसी शारीरिक दोष (physical handicap) के कारण वैधानिक रूप से प्राप्त कर नही पाते। आखिर, इधर आकर शरण लेते हैं।

(३) कुछ ऐसे व्यक्ति होते है जो उच्चवर्ग के होते हैं, जो बहुत ही अधिक कामुक एवं विषयी बन जाते हैं। यही पर हम प्रयोगात्मक अवस्था में बहते हुए कुछ उत्कण्ठित विद्यार्थियो एवं अविवाहित युवको की चर्चा भी कर सकते हैं—

अब ये तो रहे लेमर्ट (Lemert) के अनुसार। मेरे विचार से दो प्रकार के पुरुष भी और जोड़ने होंगे।

(४) ऐसे व्यक्ति जिनकी पत्नियाँ सयोग एवं सहवास के किसी भी कारणवश अयोग्य एवं असमर्थ होती हैं, भी इस ओर भटक आते हैं।

(५) फिर वे व्यक्ति जो वेश्याओ के दलाल एव भडुए आदि हैं जो स्वभावत ही इस क्षेत्र मे प्रथम स्थान पाने के अधिकारी हैं।

इस प्रकार वेश्यावृत्ति के लिये पुरुष भी एक बहुत बडी हद मे सहायक सिद्ध होता है। वैसे तो ऊपर भी हमने इन पुरुषो के वेश्याओं के पास जाने के कारणों का थोड़ा बहुत सकेत दिया है किन्तु यहाँ इस सम्बन्ध मे किन्सी (Kinsey) महोदय की report से इस बात का उत्तर देते हैं कि पुरुष वेश्याओ के पास क्यो जाते हैं। वे अधोलिखित बातें बतलाते हैं—

(१) अनेक पुरुष यौन-सतृप्ति के और किसी साधन से पूर्ति न होने के कारण वेश्यागामी हो जाते है।

(२) फिर कुछ लोग इसे विवाह की अपेक्षा सस्ता मान कर इनके पास जाते हैं।

(३) कुछ लोग रखैल न मिलने पर तथा उसकी मँहगाई से बचने के कारण इस पथ की ओर भटक आते है।

(४) फिर यहाँ सबसे बडी सुविधा यह होती है कि व्यक्ति अपने उत्तर-दायित्व से मुक्त रहता है। उसे गर्भ रहने आदि की कोई चिंता या किसी का भय नही रहता जोकि सामान्य स्त्री से अवैध यौन-सम्बन्ध स्थापित होने मे रहता है।

इसमे हम एक तत्व और भी जोडना चाहेंगे। कुछ व्यक्ति इसलिये भी वेश्याओं के भक्त बनते है कि वे प्रारम्भ मे यौन-सम्बन्ध मे शिथिलता

(variety) का अनुभव करना चाहते हैं।[1] धीरे-धीरे वही लोग आदतन बन जाते हैं। दृष्टान्तवत् आज किसी दोस्त ने जो स्वय वेश्यागामी है, बातों मे फँसाया और वेश्या के कमरे की सीढ़ियों पर चढ़ने लगे। परिणामस्वरूप कल वे उस कमरे के कण-कण से परिचित हो गये। यहाँ एक विशेष बात अवश्य ध्यान रखनी चाहिये कि किसी भी बुराई की ओर पहली-पहली बार अग्रसर होते समय मनुष्य की आत्मा, उसका विवेक, उसकी बुद्धि उसे एक झटका सा देकर उस बुराई के दोषों का कुछ आभास सा अवशेष देती है। किन्तु मनुष्य अपने कौतुहल से अन्धा होकर उसकी चिन्ता नहीं करता। यही बात वेश्यालय की सीढियों पर पहली-पहली बार चढ़ने वाले पर भी पूर्णतः घटती है। भूल नही जाना चाहिये कि यह एक परम महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक तथ्य है। अस्तु स्पष्ट है कि पुरुष की ये विचित्रता की कामना, लालसा, एवं पिपासा एक बड़ी हद तक वेश्यावृत्ति को गतिमान रखती है। कहना न होगा कि यदि पुरुष एक रोज वेश्यालयों मे न जायें और कभी न जाने का निर्णय करे तो वेश्यावृति के लिये स्थान ही कहाँ रह जाता है। दूसरे ही दिन ये नारकीय कमरे अपने भाग्य का उदय मानेगे, साथ ही साथ अपने को भार-मुक्त भी।

अब यहाँ तक तो रहा पुरुष का वेश्यावृत्ति के प्रचलन मे अनुदान। फिर यह भी देखना अत्यावश्यक है कि आखिर स्त्रियाँ इस कलकित व्यवसाय को क्यों अपनाती है। इसके लिये अधोलिखित कारक उत्तरदायी है—

१ जैवकीय कारक (Biological Factor)

कहने की आवश्यकता नही कि वेश्यावृत्ति स्वय एक जैवकीय विषय है। ऐसी दशा मे इस सम्बन्ध मे जैवकीय कारको का महत्त्व होना कोई आश्चर्यजनक बात नही। इसे हम अधोलिखित रूपों मे देख सकते हैं।

(अ) पैतृक सम्पत्ति और वेश्यावृति (Patriarchal heritage and Prostitution)—पैतृक सम्पत्ति से आशय कुछ ऐसे जीवकोषों के (cells) सक्रमण से नही है जो वेश्यावृत्ति को प्रेरित करते हैं। अपितु इसका तो तात्पर्य केवल इतना भर है कि अनेकों वेश्या-समुदाय ऐसे हैं

1. "Prostitution satisfies the craving for variety, for perverse gratification, for mysterious and provocative surroundings, for intercourse free from entangling cares and civilised pretense."

जिनमें वेश्या माताएँ अपने इस व्यवसाय को अनैतिक जीवन के प्रति बिना किसी प्रकार की शर्म रखे अपनी पुत्रियों को सिखाती हैं। अन्वेषण समिति के अनुसार आंध्र में ये समुदाय बासवी (Basvi) एवं कोयी (Koyi) कहलाते हैं तथा उत्तरप्रदेश और बिहार में नट (Nutt) तथा बोहियो (Bohio) कहते हैं। इसमें कुछ भी गुप्त न होकर सबकुछ स्पष्ट एवं सभी को ज्ञात होता है। यहाँ तक कि नई लड़की जब इस पेशे में कदम रखती है तो इस बात का सोत्सव श्रीगणेश किया जाता है। अब इन समुदायों में बहुत दिनों से सुधार-आंदोलन चल रहे है और कुछ समुदायों ने किसी हद तक इसे छोड़ दिया है।

यहीं पर हम अपराधी जातियों—(excriminal tribes) की भी चर्चा कर सकते हैं। वास्तविकता यह है कि उनके नैतिक प्रतिमान ही इस पेशे को प्रोत्साहित करते हैं। यह वृत्ति कुछ निम्न वर्गों में भी अवलोकनीय है। विस्तृत विवरण के लिए सम्बन्धित अध्याय को देखें।

(ब) यौन क्षुधा की अतृप्ति (Dissatisfaction of sex desire)—कहना न होगा कि प्रकृति ने हर स्थल पर असमानता बर्ती है। यहाँ भी यही बात है। किसी में यौन इच्छा कम होती है तो किसी में अत्यधिक। अनेक स्त्रियों में यौन इच्छा इतनी अधिक बलवती हो सकती है कि जब तक वह एक ही दिन में एक से अधिक पुरुषों के साथ संयोग न करे उनकी पूर्ति नहीं। ऐसी दशा में वेश्यावृत्ति ही एकमात्र चारा है। फिर जिन स्त्रियों के पति नामर्द होते है वे भी कभी-कभी इस पेशे को अपनाने को बाध्य हो जाती हैं बशर्ते कि कुछ और ऐसे कारक उसके साथ मिल जाये।

(स) यौन-सम्बन्धों में विचित्रता की इच्छा (Variety in sex relations)—इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि नारी की यौन-इच्छा उसी प्रकार एक से अधिक पुरुषों के साथ यौन-सम्बन्ध लाने की होती है जिस प्रकार कि एक नये खेत में चर रही गाय घास की हरेक हरी और नयी पत्ती को चख और चर लेना चाहती है।

(द) समलिंगिय यौन सम्बन्ध— कुछ स्त्रियों में समलिंगिय यौन सम्बन्धों की भी परम इच्छा पाई जाती है। यहाँ ऐसी इच्छा की पूर्ति के लिये पारिवारिक एवं सामान्य जीवन में तो कोई रास्ता नही। अस्तु इस इच्छा की पूर्ति इस सम्बन्ध में प्रविष्ट होने पर ही सम्भव है। यहाँ वेश्याएँ आपस में एक दूसरे की इस इच्छा की पूर्ति कर सकती हैं।

परम महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने विशेष रूप से अमेरिकन संस्कृति को अपनी नजर में रखते हुए लिखा है। उनके विचार में वेश्यावृत्ति के कीटाणु अमेरिका में बहुत अधिक है। यहाँ तक कि उनके मत में अमेरिका में यौन-सम्बन्ध का साम्यीकरण किया जाता है। उदाहरण के लिये अभिनेत्रिओं (heroines) का चुम्बन (kiss) लीजिये और वस्तु खरीदिये। और इस सम्बन्ध में यही विचार सोरोकिन (Sorokin) महोदय के भी है।

Davis महोदय के विचार से वेश्यावृत्ति के विश्लेषण में दो शब्दों को ध्यान में रखना परमावश्यक है और वे हैं आधिपत्य (dominance) एवं अधीनता (subordination)। तो कहने का आशय यह है कि बहुधा पुरुष ने नारी पर शासन किया है, उसको दबा कर रखा है। इसके लिये उत्तरदायी है पुरुष की नारी से अधिक शक्तिशाली होने की भावना तथा उसकी अपने स्वत्व की ईर्ष्या। अब नारी ने प्रतिफल में सर्वदा ही पुरुष का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने की कोशिश की है। इसके लिये हमेशा से ही उसने अपनी यौन-शक्ति का प्रयोग किया है। यहाँ ध्यान रखने योग्य बात यह है कि ऐसा स्त्री ने विवशता, बाध्यता एवं लाचारी में ही किया। जब उसे किसी भी प्रकार घर से बाहर निकाल दिया गया, जब उसके ऊपर अत्याचार की वर्षा हुई और जब किसी भी कारणवश उसके बच्चों के भूख से बिलखने की नौबत आई तो मजबूरी में आर्थिक प्रयोजन से उसे अपनी यौनशक्ति का दुरुपयोग करना पड़ा, और यहीं से वेश्यावृत्ति का प्रारम्भ हो जाता है।[1]

फिर यहाँ उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि इस तरह यौन का दुरुपयोग समाज तिरस्कृत सम्बन्धों के साथ ही समाज स्वीकृत सम्बन्धों के लिये भी पाया जाता है। बेचने वाली लड़कियाँ (sales girls) आदि इसका अच्छा उदाहरण हैं जो अमेरिका की संस्कृति का एक अंग हैं।

३. आर्थिक कारक (Economic factors)

निर्धनता एवं दरिद्रता भी एक बड़ी हद तक वेश्यावृत्ति के लिये उत्तरदायी मानी गई है। यहाँ ध्यान रखने योग्य बात यह है कि गरीबी स्वयं किसी भी पाप या अपराध का कारण नहीं है, अपितु यह इसके विपरीत अपने सहकारकों-सहित इस सम्बन्ध में विश्लेषणीय है। इसके सम्बन्ध में सामाजिक

---

1. "She is using sexual stimulation in a system of dominance to attain non-sexual end." *Davis.*

२. मनोवैज्ञानिक कारक (Psychological Factor)

इसके अधोलिखित पहलू विचारणीय हैं—

(अ) बुद्धिहीनता एवं मानसिक दुर्बलता (Feeble mindedness & low intelligence)—बुद्धि पर वातावरण का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है, अस्तु गन्दी बस्तियों (slums) के दरिद्र वातावरण में बसने वाली लड़कियों की बुद्धि बहुधा कमजोर होती है। वे अपने भविष्य के विषय में, अपने अच्छे और बुरे तथा अपने हित और अहित के विषय में दूरदर्शी (far sighted) नहीं होतीं। परिणामस्वरूप बहुधा ऐसे वातावरण के कुछ उत्पादन कुछ और कारकों की सहायता या सरलतापूर्वक यह मार्ग स्वीकार कर लेते हैं। इस प्रकार कम बुद्धि वाली स्त्रियों की इस वृत्ति को स्वीकार करने की सम्भावना अधिक रहती है, अपेक्षाकृत तीव्र बुद्धि वाली स्त्रियों के। साथ ही ऐसी कम बुद्धि वाली लडकियों को गाँवों में स्टेशनों आदि से टैक्सी (Taxi) द्वारा कार्यरत गिरोह उड़ा ले जाता है और फिर उन्हें यह वृत्ति स्वीकार करनी पड़ती है।

(ब) संवेगात्मक तनाव (Emotional insecurity)—संवेग मनोवैज्ञानिक तथ्य है। अत. इस सम्बन्ध में विश्लेषण करते हुए डा० एडवर्ड ग्लोवर (Edward Glover) ने बड़ी अच्छी व्याख्या प्रस्तुत की है। उनके विचारानुसार अनेक स्त्रियाँ मनोवैज्ञानिक एव संवेगात्मक सुरक्षा से वंचित होने के कारण इस ओर बढ़ आती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जिन लडकियों को बचपन में स्नेह नहीं मिला होता, अपितु उन्हें परेशानी मिली होती है वे एक प्रकार की क्षति-पूर्ति (compensation) तथा बदला लेने की अर्धचेतन भावना से प्रेरित होकर इस मार्ग का अनुसरण करती हैं। इस प्रकार की लडकियों में अपने माता-पिता के प्रति एक प्रकार की घृणा की सी भावना होती है और प्रतिकारस्वरूप वह इस घृणा की भावना को समस्त मानव समाज पर इस रूप में आरोपित कर सन्तोष सा पाती है। अधिक स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि ऐसी लडकी अपने पिता के प्रति प्रज्जवलित घृणा को सम्पूर्ण पुरुषों के प्रति, उनके पतन का साधन बनकर, एक बदले की भावना प्रकट करती है। यह विश्लेषण दूसरे रूप में मनोविश्लेषणात्मक (psychiatric) सिद्धान्त कहलाता है।

(स) आत्महीनता की भावना और क्षतिपूर्ति (Compensation of inferiority complex)—इस सम्बन्ध में किग्सले डेविज महोदय (Kingley Davis) की "वेश्यावृत्ति का समाजशास्त्र", नाम का निबन्ध

परम महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने विशेष रूप से अमेरिकन संस्कृति को अपनी नजर में रखते हुए लिखा है। उनके विचार में वेश्यावृत्ति के कीटाणु अमेरिका में बहुत अधिक हैं। यहाँ तक कि उनके मत में अमेरिका में यौन-सम्बन्ध का व्यापारीकरण किया जाता है। उदाहरण के लिये अभिनायिकाओं (heroines) का चुम्बन (kiss) लीजिये और वस्तु खरीदिये। यही इस सम्बन्ध में यही विचार सोरोकिन (Sorokin) महोदय के भी है।

Davis महोदय के विचार में वेश्यावृत्ति के विश्लेषण में दो शब्दों को ध्यान में रखना परमावश्यक है और वे हैं आधिपत्य (dominance) एवं अधीनता (subordination)। तो कहने का आशय यह है कि बहुधा पुरुष ने नारी पर शासन किया है, उसको दबा कर रखा है। इसके लिये जिम्मेदारी है पुरुष की नारी से अधिक शक्तिशाली होने की भावना तथा उसकी अपने स्वत्व की ईर्ष्या। अब नारी ने प्रतिफल में सर्वदा ही पुरुष का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने की कोशिश की है। इसके लिये हमेशा से ही उसने अपनी यौन शक्ति का प्रयोग किया है। यहाँ ध्यान रखने योग्य बात यह है कि ऐसा स्त्री ने विवशता, बाध्यता एवं लाचारी में ही किया। जब उसे किसी भी प्रकार घर से बाहर निकाल दिया गया, जब उसके ऊपर अत्याचार की वर्षा हुई और जब किसी भी कारणवश उसके बच्चों के भूख से बिलखने की नौबत आई तो मजबूरी में आर्थिक प्रयोजन से उसे अपनी यौनशक्ति का दुरुपयोग करना पड़ा, और यहीं से वेश्यावृत्ति का प्रारम्भ हो जाता है।[1]

फिर यहाँ उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि उस तरह यौन का दुरुपयोग समाज तिरस्कृत सम्बन्धों के साथ ही समाज स्वीकृत सम्बन्धों के बीच भी पाया जाता है। बेचने वाली लड़कियाँ (sales girls) आदि इसका अच्छा उदाहरण है जो अमेरिका की संस्कृति का एक अंग है।

२ आर्थिक कारक (Economic factors)

निर्धनता एवं दरिद्रता भी एक बड़ी हद तक वेश्यावृत्ति के लिये जिम्मेदार मानी गई है। यहाँ ध्यान रखने योग्य बात यह है कि गरीबी स्वयं किसी भी पाप या अपराध का कारण नहीं है, अपितु यह इसके विपरीत अपने सहकारी सहित इस सम्बन्ध में विवेचनीय है। इसके सम्बन्ध में सामाजिक

1. "She is using sexual stimulation in a system of dominance to attain a non sexual end." — Davis

एवं भौतिक स्वास्थ्य पर भारतीय समिति की रिपोर्ट में अच्छा विवरण है। पर्यवेक्षण करते हुए समिति के सदस्यों ने एक वेश्यालय में तीन नयी तरुण लड़कियों को देखा और उनसे इस सम्बन्ध में प्रश्न किये—उत्तर में उन लड़कियों का कहना था कि ये लड़कियाँ अब शहर में बहुत सुखी थीं। कारण यह था कि गाँवों में उन्हें अँधेरे कोठों में रहना पड़ता था, खेतों पर कठोरता-पूर्वक काम करना पड़ता था, तथा चाकियों से बहुत समय तक झगड़ना पड़ता था, जिससे उनके छाले पड़ जाते थे, शरीर विकीर्ण हो जाता था, सौन्दर्य फीका पड़ जाता था। साथ ही वे कभी भी नये कपड़े नहीं खरीद सकती थीं, सिनेमा, चायपार्टी, तथा कार में बैठने का आनन्द नहीं ले सकती थीं। वे एक दिन में कुछ आनाओं से अधिक नहीं कमा सकती थीं। किन्तु जब से वे शहर में आई हैं उनकी आय अनुमानत. सम्मिलित रूप में १००० रु० माह पर पहुँच गई थी, साथ ही सायकाल कुल ८ से लेकर ११ बजे तक काम करना पड़ता था। फिर शेष समय में वे जो चाहे कुछ भी करने के लिये स्वतंत्र थी। समिति के सदस्य इसका उत्तर क्या देते। इस प्रकार हम देखते हैं कि निर्धनता अपने कुछ सहकारकों सहित एक बड़ी हद तक वेश्यावृत्ति के लिये उत्तरदायी है। विस्तृत रूप से इसे अधोलिखित रूप में देखा जा सकता है—

(अ) आवश्यकता—यों तो सभी वेश्याएँ जीवन की आवश्यकता की पूर्ति के लिये ही इस पेशे को अपनाती हैं किन्तु फिर भी कुछ वेश्याएँ अन्य कारकों के न रहते हुए भी केवल आवश्यकता की पूर्ति के लिये मनुष्य की पिपासा की शिकार बनती हैं। समिति के पर्यवेक्षण के अनुसार एक वेश्या ने बतलाया कि गाँव में उसके चार भाई है और चारो ही छोटे है। अत: उनके पढ़ने लिखने, उनके आगे बढने के लिये तथा अपने जीवन-निर्वाह के लिये भी पैसों की आवश्यकता के कारण वह इस पेशे को अपनाये हुए है। हेफर महोदय ने एक वेश्या के सम्बन्ध मे कहा है कि उसने अपने जीवन-निर्वाह के लिये पहले एक घरेलू नौकरानी के रूप मे मालकिन की ठोकरे खाने से इस पतित मार्ग को अपनाना अच्छा समझा।

(ब) भौतिक आकर्षण—अनेको लडकियाँ वाह्य भौतिक वस्तुओं के आकर्षण से अन्धी हो तथा किसी अन्य साधन से उसे प्राप्त करने की असमर्थता के कारण इस वृत्ति को अपना लेती है। उदाहरण के लिये कुछ लड़कियाँ सिनेमा के टिकिट खरीदने के लिये प्रारम्भ मे यौन-सम्बन्ध करा सकती हैं और आगे चलकर यही उनकी वृत्ति बन जाती है। होवार्ड वूलस्टन महोदय का

भी मत है कि "छोटी मोटी नौकरियों पर काम करने वाली लड़कियाँ अपने मन में यह सोच कि जितना धन वह यहाँ एक हफ्ते तक खून पसीना एक कर कमाती हैं उतना वे इस पेशे में बिना कोई खास काम किये एक रात में कमा सकती हैं और फिर जीवन की हर सुख, सुविधा का उपभोग कर सकती हैं, इस ओर जाती हैं।"[1] कुछ केवल अच्छे वस्त्र एवं जेवर की कामना के वशीभूत होकर यह पेशा स्वीकार कर लेती हैं।

यही मनोवृत्ति आदेशानुसार उपस्थित लड़कियाँ (call girls) आदि के साथ काम आती है। वे भौतिक साधनों की अधिकाधिक उपलब्धि के लिये इस वृत्ति को अपनाती है। खैर तो इस प्रकार हमने आर्थिक कारण के दो पहलू देखे—(१) आवश्यकता, (२) भौतिक आकर्षण—अब यहाँ एक परम महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि क्या सभी निर्धनता एवं दरिद्रता ग्रसित नारियाँ वेश्या होती हैं? उत्तर होगा—नहीं। तो आखिर कुछ ही स्त्रियाँ गरीबी की हालत में इस पेशे को क्यों स्वीकार कर लेती हैं, दूसरी क्यों नहीं? बस इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए आर्थिक कारकों के साथ अन्य सहकारकों का महत्त्व होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि दरिद्रता की स्थिति के साथ कुछ और ऐसी दशाएँ भी आवश्यक हैं जो कुछ को इधर खेंच लेती है और दूसरों को नहीं। अस्तु यहाँ लेमर्ट (Lemert) महोदय का भूमिका सिद्धान्त (Role Theory) महत्त्वपूर्ण है। इस सम्बन्ध में सामाजीकरण (socialisation) के साथ व्यक्तित्व के विशेष निराले अंग का संयोग है। अधिक स्पष्टीकरण के लिये अपराध के कारण (crime causes) सम्बन्धी अध्याय को देखिये।[2]

इस प्रकार बहुधा पर्यवेक्षणोपरान्त यह पाया गया कि अधिकतर वेश्याएँ दरिद्र घरों से आती हैं। मनहीम (Mannheim) महोदय ने तो इसे माँग और पूर्ति (supply-demand) आर्थिक वस्तु की प्रक्रिया माना है। भारतीय समिति के विचार भी इस सम्बन्ध में अवलोकनीय है।[3] अनेक विद्वानों

---

1. "In Porohibition the ordinary woman can realise almost as much in one night as her meager abilities would enable her to earn (Legitimately) in a week."

—*by Howard Woolston.*

२. पुस्तक के प्रथम भाग में मिलेगा।

3. "Where a deman[illegible] supply was necessarily f[illegible] [illegible] spared to lay the bl[illegible] the women alc[illegible]"

Committee.

के मन में वेश्यावृत्ति पूँजीवादी मूल्यों (capalistic values) का प्रकाशन है। डेविस (Davis) एवं सोरोकिन (Sorokin) महोदय की बात की इस सम्बन्ध में हम ऊपर चर्चा कर ही आये हैं।

अब जैसा कि संकेत किया ही जा चुका है कि गरीबी प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों ही रूपों में वेश्यावृत्ति की ओर ले जाती है। अप्रत्यक्ष रूप में हम ले सकते हैं, गन्दी बस्तियों का वातावरण, मकान, पड़ोस, आदि। यह इस सम्बन्ध में अत्यधिक महत्वपूर्ण है इसलिये उन्हें एक अलग शीर्षक में स्पष्ट करते हैं।

४　गृह-दशाएँ (Home Conditions)

(अ) कहा ही जा चुका है कि अधिकतर इसका निश्चय आर्थिक स्थिति से होता है। अस्तु इसके अधोलिखित पहलू देखे जा सकते हैं। औद्योगीकरण (Industrialisation) आदि जैसे अन्य अनेक कारणों से नगरों में जनसंख्या का घनत्व आवश्यकता से अधिक हो गया है। ऐसी दशा में गरीब आदमी बड़ी कठिनाइयों के उपरान्त गन्दी बस्तियों (slum Areas) में ही मकान ले पाते है। कारण स्पष्ट है कि अच्छी जगह पर किराया अधिक होता है जिसे गरीब देने में असमर्थ हैं। अतः उन्हें इस गन्दे वातावरण में रहना पड़ता है जो हर दृष्टि से हानिकारक है।

(ब) पड़ोस (Neighbour)—कुछ पड़ोस ऐसे होते हैं जो सभी बुराइयों के अड्डे होते हैं। इन पड़ोसों में शराब, एवम् व्यभिचार खुले तौर पर चलता है। स्वाभाविक ही है कि ऐसे पड़ोस में रहने वाली लड़कियाँ इस वृत्ति की ओर प्रवृत्त हो जाती है। फिर एक बार आदमी के बिगड़ने पर उसके सुधरने की सभावना बहुत ही कम रह जाती है। यदि पड़ोस सज्जन है तो एक बार गर विकार मन में पैदा भी हो तब भी दबाया जा सकता है।

५. पारिवारिक विघटन

हर व्यक्ति जानता है कि परिवार वह पहली और परम महत्त्वपूर्ण सस्था है जो बालक को अनायास ही प्रशिक्षित करती है, बनाती है, एव बिगाड़ती है।· अस्तु अपने विषय के सम्बन्ध मे इसके अधोलिखित पहलू दर्शनीय है—

(अ) नष्टघर (Broken home)—यहाँ ध्यान रहे कि नष्ट घर वे होते है जिनमे से पति या पत्नी में से किसी एक की मृत्यु हो जाय, तलाक मिल जाय, परित्याग हो जाय, आदि। ऐसी स्थिति मे अनेकों जटिलताएँ पैदा हो

जाती हैं। परिवार की प्रतिष्ठा भग हो जाती है। ऐसी दशा मे लड़कियाँ सरलतया परिस्थितियो वश इस ओर खिच आती हैं।

(ब) माँ का नौकरी करना—गरीबी के प्रकोप एव नष्ट घर के परिणामस्वरूप माँ को अपने जीवन-निर्वाह के लिये नौकरी पर जाना होता है। नतीजा निकलता है कि लडकी अकेली ही घर पर रह जाती है। ज्यों-ज्यों लड़की अपनी अवस्था को प्राप्त करती है, यह एक जैवकीय तथ्य है कि उसमे यौन-क्षुधा भी तीव्र होती जाती है। बालापन की सरलता एव अनुभव की अप्रौढ़ता के कारण लडकी अकुश के अभाव मे स्वत ही इस ओर खिच आती है। फिर यह तो एक माना हुआ तथ्य है कि अमीर यदि हजार बुरे काम करे तो वह भी छुप जाते हैं, किन्तु गरीब का एक भी बुरा काम हजार कामो से ज्यादा बुरा साबित होता है। अस्तु सामाजिक तिरस्कार का शिकार बन फिर उस लडकी के समक्ष सिवाय इसके और जीवित रहने का कोई रास्ता ही नहीं होता।

(स) अनैतिक घर (Immoral Home)—अनेकों माता पिता अनगिन बुराइयो के घर होते हैं। बालक पर माँ बाप का प्रभाव दुनिया के किसी भी और व्यक्ति से अधिक पड़ता है। अस्तु यदि माँ-बाप स्वय ही बिगड़े होंगे तो बालक के सच्चरित्र होने की सम्भावना करना आकाश कुसुम की कल्पना करने के समान ही निरर्थक होगा। बहुत से माँ-बाप, शराबी एव कुपथगामी होते है।

इतना ही नहीं कुछ विद्वानो के पर्यवेक्षण के अनुसार अनेकों माँ-बाप बिना किसी हिचक और लज्जा एव भय के अपनी लड़कियों को ऐसी वृत्ति के लिये सबकुछ जानते हुए भी अवसर देते है।[१]

(द) क्रूरता एव दुर्व्यवहार—यह स्पष्ट ही है कि यदि पति अत्याचारी है, क्रूर है, नृशस तो इसका परिणाम निकलता है पत्नी की बेदखली। कहने का तात्पर्य है कि पति जब अपनी क्रूरता से मारपीट कर पत्नी को घर के बाहर निकाल देता है तो वह आसानी से इस वृत्ति की शिकार बन

"In many cases, the mother is a prostitute herself, the father is a pimp, and they send their daughters on the streets without the slightest compunction often themselves initiating her in sexual intercourse."
—George Scott

१

जाती है इसके अतिरिक्त एक अशिक्षित स्त्री के लिये अपने जीवनयाप
का कोई और ठीक रास्ता भी तो नही रहता। यही परिणाम विधवा के प्रति
सास-ससुर के दुर्व्यवहार का निकलता है।

६. धार्मिक एवं परम्परागत कारक (Religious & Traditional factors)

धर्म विश्वास एव अभ्यास का सयुक्त रूप है। अब जहाँ तक विश्वास विवेकपूर्ण है वहाँ तक तो धर्म प्रगति का मार्ग है और जहाँ धर्म अन्धविश्वासो से (superstitious) बोझिल होता है वही वह अवनति के द्वार खोल देता है। यह बात अधोलिखित विश्लेषण से और भी स्पष्ट हो जायगी। कई रूपों मे देखा जा सकता है इसे—

(अ) देवदासी प्रथा (Devedasi Pratha or Custom)—देवदासी प्रथा के अनुसार कुछ लडकियाँ जो किन्ही कारणोवश मदिरो को समर्पित कर दी जाती हैं और जिनको जन्म भर क्वारी रहने का बन्धन रहता है बहुधा इस वृत्ति को अपना लेती हैं। यह प्रथा मद्रास, बम्बई, एव उड़ीसा, राज्यो मे मिलती है। यद्यपि देवदासी विरुद्ध कानून मद्रास और बम्बई दोनो ही राज्यो मे लागू कर दिये गये हैं जिनमे मद्रास एक बडी हद तक इस कुप्रथा को रोकने मे सफल हो सका है।

भारतीय पर्यवेक्षण समिति के अनुसार बम्बई के वेश्यालयो मे यलम्मा (yellamma), कर्नाटक के दुर्गा एव मगेश तथा खण्डेश आदि राज्य के अन्य भागो से अनेक देवदासियाँ मिलती हैं। क्योकि इन्हे जन्म भर अविवाहित रहना जरूरी होता है और यह मानव प्रकृति के विरुद्ध है अस्तु सरलतया ये लोग इस कुत्सित मार्ग को स्वीकार कर लेती हैं। वे माँ बाप जिनकी सतान नही बचती—देवी देवता के समक्ष यह प्रतिज्ञा करते हैं कि अगर उनकी सतानें जीवित रही तो वह मदिर-देवता को अर्पित कर दी जायँगी।

फिर ये देवदासी प्रथा वशानुक्रमण के आधार पर चलती है। यानी उन वेश्या देवदासियो की सतानें भी वेश्याएँ ही बनती हैं। जैसा कि सकेत दिया ही जा चुका है कि बम्बई के अधिकतर वेश्यालयो मे अधिकतर वेश्याएँ देवदासी ही है।

अब इन लडकियो को देवताओ को अर्पण करने का उत्सव बड़ी उत्सुकता का विषय है। यह देवता कहलाता है। इन लड़कियो का उस अवसर पर विवाह भी सम्पन्न किया जा सकता है, किन्तु वहाँ पर पुरुष के

स्थान पर पुरुष वेषधारी नारी ही होती है। यह एक प्रकार से झूंठ-मूंठ का विवाह (mock marriage) होता है।

(ब) नित्य मगली अथवा कालावन्ती (Nitya mangli or kalavanti)—यह परम्परागत रूप से उन स्त्रियो का समूह होता है जो राजा और महाराजाओ के महलो के आसपास पाई जाती थी और राजाओ की सेवा करती थी और उत्सवो के अवसर पर जनता एव सरदारो का मनोरजन करती थी। इनको सामाजिक सरचना के सगठन मे एक निश्चित स्थान प्राप्त था। इनके हाथ से नयी दुलहन के गले मे एक पवित्र ताली बँधवाना उसके सुहाग की रक्षा के लिये शुभ माना जाता था और यहाँ तक कहा जाता है कि प्राचीन काल मे सम्मानित परिवारो के नये युवक अपने यौन सम्बन्धी प्रथम अनुभव के लिये इन्ही के पास जाने को प्रोत्साहित किये जाते थे। यद्यपि इन स्त्रियो के वशज अब भी मिलते हैं किन्तु फिर विकासशील एव नैतिक विचारो के उत्तरोत्तर प्रसार के कारण ये वर्ग शीघ्रातिशीघ्र ही समाप्त प्राय. होता जा रहा है।

(स) महन्त और पण्डा (Mahents & Pandas)—कुछ तथाकथित पण्डो एव महन्तो के धार्मिक केन्द्र एव आश्रम भी, धर्म की ओट मे, स्त्री भक्तो को अनैतिक जीवन की ओर खीच लेते हैं। वहाँ साधु और अन्य दर्शकगण उनसे अपनी यौन-क्षुधा की तृप्ति करते हैं। यह समिति का पुष्ट विचार है।

७. सामाजिक रीतियाँ एवं समाजशास्त्रीय दशाएँ

यहाँ आगे बढ़ने के पूर्व यह बतला देना परमावश्यक है कि यद्यपि वेश्यावृत्ति समाज के लिये अभिशाप-स्वरूप अवश्य है किन्तु वह सामाजिक तिरस्कार (social neglect) का ही तो परिणाम है। फ्लेक्सनर (Flexner) ने "Prostitution in Europe", नाम की अपनी पुस्तक मे लिखा है "वेश्यावृत्ति व्यक्तिगत कारको की पारस्परिक अत क्रियाओ एव सामाजिक दशाओ से पैदा हुआ ही एक प्रमेय है।"[1] इसको अधोलिखित रूप मे देखा जा सकता है।

---

1. "Prostitution is a phenomenon arising out of the complicated interaction of personal factors and social conditions."
—*Flexner.*

[illegible] होता था उनकी आर्थिक आवश्यकता। फिर यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं कि पूरी असहाय स्थिति में न एक बड़ी संख्या अपने को बनारस के वेश्यालयों में पाती थी।

(ह) सिनेमा व्यवसाय (Cinema Industry)—भारतीय दण्डक्षण समिति का मत है कि फिल्म संसार में काम करने वाली तरुणियों और उनमें भी विशेषकर नवीन अभिनेत्रियों को अनैतिकता का शिकार बहुधा होना पड़ता है। समिति का इस सम्बन्ध में कहना है कि क्योंकि इस व्यवसाय के काम करने के कोई निश्चित घंटे नहीं होते। इसका परिणाम होता है नारी का शोषण। साथ ही फिर दूसरे रूप में इसका प्रभाव इसलिये भी और महत्वपूर्ण है कि बहुधा लोग सिनेमा से गन्दी बातें एवं अन्य अनैतिक बातें शीघ्र सीख जाते है, क्योंकि सिनेमा का उत्तरदायित्व जोर ही उस पर रहता है। इस कारण यह भी कुछ हद में अपनी प्रस्तुत दशा में इस ओर ले जाता है। अस्तु हम यह भी कह सकते हैं कि वेश्यावृत्ति का आवश्यक कारण आर्थिक न होकर अनिवार्य रूप से सामाजिक नैतिक एवं वैयक्तिक है।[1]

आगे भी बिवीरिज (Slie Beveridge) महादय ने वेश्यावृत्ति की ओर ले जाने वाले कारक अधोलिखित बतलाये है—

(१) सामाजिक प्रथाएँ (Social Customs)—बिवीरिज (Beveridge) ने नम्बूद्रीपाद आदि की कुछ प्रथाओं का विश्लेषण किया है। नम्बूद्रियों में यदि कोई लड़की भूल से भी सामाजिक प्रथाओं को तोड़ती थी तो वह इस पेशे को अपनाने के लिये मजबूर कर दी जाती थी।

फिर उनके मत में बहु विवाह की प्रथा (Custom of Polygamy) भी इस ओर एक कारक है। इसमें अधिकता होने के कारण पुरुषत्व अथवा नारीत्व का महत्त्व घटता है। परिणामस्वरूप वेश्यावृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है।

(२) गृह दशाएँ—इसको तीन रूपों में देखना होगा—

(अ) गृह की समस्या (Problem of housing)—यहाँ वही गन्दी बस्तियों की समस्या है। फिर एक ही मकान में ७-८ परिवार रह रहे

---

1. "The essential cause of prostitution is not economic but essentially social, moral and individual."

है जहाँ कोई गुप्त स्थान ही नही। अस्तु, एक अच्छी खासी भीड़ एक कम जगह होने के कारण अनैतिकता को बल मिलता है।

(ब) अकेले घर की समस्या (Problem of lonely home)—यह वैयक्तिक एव उच्च परिवार मे अधिक होती है—ऐसे परिवारो मे क्लब जाना, ट्यूटर, नौकर, पुरुष मित्र, आदि अनेक उलझने डाल देते हैं। इस सबका अन्तिम परिणाम होता है वेश्यावृत्ति।

(स) नष्ट घर (Broken home)—जहाँ सामाजीकरण में कुछ सवेगात्मक तत्त्व आ जाते है, माँ-बाप अनैतिक होते है, वहाँ यह समस्या महत्त्वपूर्ण बन जाती है।

(३) कार्यमय जिन्दगी (Work life)—अर्थात् माँ का नौकरी करना। लडकी का छोटी उम्र मे नौकरी करना फिर यहाँ पर भी काम की प्रकृत्ति एवं किस्म (nature & kind of work) विचारणीय है। उदाहरण के लिये विक्रेता लड़कियाँ (sales girls) टाइपिस्ट (typist girls) लडकियाँ इत्यादि।

(४) सहशिक्षा (Co-education)—बिवीरिज (Beveridge) का वेश्यावृत्ति के लिये बतलाया गया यह कारक कुछ विवादपूर्ण है। कहना न होगा कि भारत मे सहशिक्षा अर्थात लडके और लड़कियो के साथ-साथ एक ही जगह पढने की व्यवस्था का प्रारम्भ हाल का ही उत्पादन है। यहाँ बिवीरिज (Beveridge) के अनुसार पातक की भावना (guilt complex) बहुत महत्त्वपूर्ण है। किसी भी दशा मे उसे एक सामान्य कारक मानना सन्देह-पूर्ण है।

(५) कातरता (Cowardice)—जो लड़कियाँ सामाजिक बुराइयो के थपेडो मे जूझने मे असमर्थ होती हैं, अक्षम होती हैं, कातर होती है वे सरलतया उनकी शिकार बन जाती हैं। फिर रास्ता खुल ही जाता है।

(६) वैयक्तिक कारक (Personal factors)—यहाँ गिल्टियों का असामञ्जस्य (glandular mal adjustment), मानसिक दुर्बलता, यौन-तृषा की अत्यधिकता आदि कारक विचारणीय हैं।

इस प्रकार Beveridge महोदय ने परम सश्लिष्ट अध्ययन के उपरान्त वेश्यावृत्ति के लिये यह कारण निश्चित किये हैं। फिर डच (Dutch) अपराधशास्त्री बोजर (Bonger) महोदय ने वैयक्तिक एव आनुवंशिक कारणों का निराकरण कर पूर्णरूपेण वातावरण सम्बन्धी (environment) कारकों

दर कर दिया है। कहने का तात्पर्य यह है कि वेश्यावृत्ति गन्दे एवं अनैतिक वातावरण का उत्पादन है, कुछ और नहीं। उन्होंने एक बड़े अच्छे तत्त्व पर बल दिया है और वह है इस वृत्ति को स्थायी बनाये रखने में अनेक व्यक्तियों का स्वार्थ। कहना न होगा कि जैसा कि हम प्रारम्भ में दिखा आये हैं कि मकान-मालिक, दलाल, वेश्यालय चलाने वाले अनेक व्यक्तियों के आर्थिक लाभ इससे जुड़े हुए हैं इसलिये इस पेशे को प्रोत्साहन मिलता रहता है। और पूर्णरूप से उपर्युक्त विवेचित कारण एवं कारक ही वेश्यावृत्ति के लिये उत्तरदायी हैं।

सामाजिक एवं नैतिक स्वास्थ्य के उद्देश्य (Objective & Purpose of Social & Moral Hygiene)—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, यह एक सर्वज्ञात तथ्य है। किन्तु आखिर सामाजिक से क्या तात्पर्य है। सामाजिक से अर्थ है मानव सम्बन्धों का ज्ञान। मनुष्य इन सम्बन्धों से दूर हो ही नहीं सकता और यदि इन सम्बन्धों से दूर हो गया तो फिर वह मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं। अच्छे से अच्छे, बड़े से बड़े योगी महात्मा ईश्वर से अपना सम्बन्ध बनाते हुए भी अपने ही छोड़े हुए सामाजिक प्रतिमानों के आधार पर ही स्थापित करते हैं। दूसरे शब्दों में यद्यपि वाह्य रूप में तो वे समाज को छोड़ हिमालय की गुफा में पहुँच गये हैं। किन्तु उनका अन्तर सदैव उन सम्बन्धों में जकड़ा हुआ है। ऐसी दशा में सम्बन्धों के ज्ञान का दूसरा नाम ही समाज है। इसे दूसरे रूप में इस प्रकार देखा जा सकता है कि जब मनुष्य के बच्चों को भेड़िया आदि जंगली जानवर उठा ले जाते हैं तो उनके संसर्ग में रहने से वे भेड़िया ही बनते हैं—मनुष्य नहीं। अब सुख शान्ति एवं उत्थान के लिये आवश्यकता है मधुर एवं उदात्त सामाजिक सम्बन्धों की। अस्तु जब तक सामाजिक सम्बन्ध स्वस्थ न होंगे तब तक समाज के आगे बढ़ने का प्रश्न ही नहीं उठता। जब तक सामाजिक सम्बन्धों में विकार अपना स्थान बनाये हुए हैं तब तक वह प्रगति को पनपने ही नहीं देगा। अतः सामाजिक स्वास्थ्य का स्पष्ट सा उद्देश्य है, प्रगति, उन्नति, एवं आगे बढ़ना। और भी स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है लोक-कल्याण एवं हितकर-समाज की स्थापना।

आगे नैतिक स्वास्थ्य का भी लक्ष्य तो यद्यपि उपर्युक्त ही है परन्तु फिर भी विश्लेषण अनिवार्य है। आगे बढ़ने के पूर्व जानना आवश्यक है कि नैतिकता है क्या ? नैतिकता का अध्ययन नीतिशास्त्र (Ethics) का विषय है। वहाँ शुभ-अशुभ, सद्-असद्, अच्छे और बुरे का विचार ही केन्द्रीय विचार है। यदि हम मनुष्य को नैतिक प्राणी कहने का दुस्साहस करें तो अतिशयोक्ति

न होगी। इसे हम इन रूपों में सिद्ध कर सकते हैं। मनुष्य ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ कृति है। यहाँ जानवर और मनुष्य के बीच अन्तर देखना आवश्यक हो जाता है। कारण स्पष्ट है कि यदि हम मनुष्य को ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ रचना मानते हैं तो आखिर उसमें ऐसी कौनसी चीज है जो जानवर में नहीं। हमारे विचार में यहाँ मनुष्य और अन्य जीवों में अन्तर की रेखा खींचने वाली एक परम महत्त्वपूर्ण वस्तु है और वह है 'चाहिये' की क्षमता। केवल मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो किसी काम को करने के पहले तुलनात्मक रूप से अन्य जीवों से बहुत अधिक इस बात का विचार करता है कि मुझे यह काम करना चाहिये या नहीं। आप इसे उसकी विचार शक्ति कह सकते हैं, बुद्धि कह सकते हैं किन्तु यह मानना होगा कि मनुष्य में ही ऐसी कोई बात है जो उसके अन्दर अच्छाई और बुराई का विचार पैदा करती है। यहीं यह भी कह देना आवश्यक है कि जिन व्यक्तियों में यह क्षमता नहीं मिलती उन्हें या तो हम पागल कहते हैं या मूर्ख। सामान्य धारणानुसार वे व्यक्ति जिनमें 'चाहिये' (ought) की क्षमता का अभाव रहता है पशुवत ही होते हैं।

प्रारम्भ काल से ही मनुष्य ने अपने अनुभव से सीखना शुरू किया। उसने जिन चीजों को अपने अस्तित्व एवं उत्थान के लिये आवश्यक समझा उन्हें अच्छा कहा और जिन्हें अपने अस्तित्व के लिये खतरनाक एवं हानिकारक समझा उन्हें अवाछनीय कहा। यद्यपि मानना होगा कि इस ससार की कोई भी चीज अथवा कोई भी सत्ता सापेक्ष रूप से पूर्ण नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि समाज भी इसी प्रकार पूर्ण नहीं है और उसने भी कुछ ऐसी ही प्रथाओं को स्थान दिया जो समाज के नैतिक स्वास्थ्य को अस्वास्थ्यप्रद है। उदाहरण के लिये हम हिन्दू समाज की विधवा विवाह निषेध प्रथा व दहेज प्रथा आदि को ले सकते हैं। यद्यपि अब लोग इन प्रथाओं को बुराइयों के प्रकाश में ला इन प्रथाओं पर प्रहार कर रहे हैं किन्तु फिर भी बहुत समय तक यह बुराई अपना स्थान बनाये रही, यह मान्य ही है। फिर भी समाज ने अधिकतर वही बातें महत्त्वपूर्ण एवं शुभ समझीं जो उसके उन्नयन के लिये आवश्यक थीं।

अस्तु यही कसौटी सामाजिक एवं नैतिक स्वास्थ्य का लक्ष्य है। इसका उद्देश्य है उन सभी बुराइयों एवं कुप्रथाओं तथा मद्यपान, वेश्यावृत्ति आदि का निराकरण तथा उनके स्थान पर अच्छी बातों का प्रतिस्थापन।

फिर उस पर भी भारतीय सरकार का उद्देश्य लोक-कल्याणकारी welfare state) की स्थापना है। यह तभी सभव है जब बुराइयों

का अधिक से अधिक निराकरण हो जाये। ऐसा हो जाने का अगला कदम होगा विकास अथवा प्रगति।

भारत में वेश्यावृत्ति की समस्या (Problem of Prostitution in India)—कहना न होगा कि भारत मे यह प्रवृत्ति आदि काल से ही चली आ रही है। भारतीय समिति के शब्दो मे "वेश्यावृत्ति विश्व मे एक प्राचीनतम व्यवसाय है।"[1] 'फिर हर देश की सत्ता ने इसे एक आवश्यक बुराई (necessary evil) के रूप मे देखा है, इसके निराकरण के लिये अनेकों कानून भी बनाये। हमारे पूर्वजों का विश्वास था कि मनुष्य को अतिरिक्त विवाह सम्बन्ध (extra merital relations) भी चाहिये। इसी कारण-वश इन्होंने इस नाचने, गाने, तथा विशेष आमोद के साधन को प्रारम्भ से ही बढ़ावा दिया।"[2]

भारत मे वेश्यावृत्ति के प्रसार के विषय म समिति का कहना है कि केवल कुर्ग (Kurg) को छोड शेष समस्त राज्यों मे वेश्यावृत्ति का अभ्यास पाया गया। फिर उसमे भी गांवों की अपेक्षा बड़े शहर इस बुराई से अधिक जकड़े पाये गये। इसका कारण गांवों मे आर्थिक स्थिति की दुर्बलता एव नैतिक साधनों की सबलता है।

सोवियत रूस मे वेश्यावृत्ति की समस्या (Problem of Prostitution in Russia)—प्रो० S E Sigerist ने अपनी पुस्तक "Medicine & Health" मे कहा है कि रूस मे वेश्यावृत्ति समाप्त प्राय. हो गई है। किन्तु उनका यह कथन सन्देहपूर्ण है। फिर भी अपेक्षाकृत और देशों की अपेक्षा वहाँ कम है, यह तो मानना ही पडेगा। रूस मे इस पेशे को समाप्त करने की प्रक्रिया वास्तव मे दर्शनीय है। यह अधोलिखित है —

(१) जनता की ओर से बुराई (Condemnation by Public)—रूस का इस सम्बन्ध मे सबसे प्रभावशाली साधन यह है कि रूस मे

---

1. "Prostitution is one of the oldest Professions in the world" —*Indian Committee.*

2. "It was believed that man was by nature predatory and polygamous and therefore no stigma should attach to him especially as he did not have to bear the responsibilities of immoral sex-relation." —*Indian Committee.*

उन लोगों को जो इस वृत्ति की ओर बढ़कर उसे प्रोत्साहन देते हैं, वे जनता के द्वारा पोस्टरो पर लिखकर टाग दिये जाते हैं। प्रत्येक विचारशील व्यक्ति की समझ मे यह विधि दण्ड की किसी भी अन्य विधि से अधिक प्रभावशाली है।

(२) दया की पात्र (Cause for pity)—समाज का रुख वेश्याओ के प्रति घृणापूर्ण न होकर दयापूर्ण होना आवश्यक है।[1] रूस की विधि यहाँ भी बड़ी आदर्शपूर्ण है। रूस मे वेश्यावृत्ति की बुराई से लड़ने के लिये भी हमेशा सचेत रहा जाता है और यह ध्यान रखा जाता है कि असरक्षित युवा लड़कियाँ इस बुराई के जाल मे न फँस जांय। ऐसी असरक्षित लड़कियो को काम मे भरती होने के लिये प्राथमिकता दी जाती है।

(३) वेश्यावृत्ति के विरुद्ध प्रचार—रूस में वेश्यावृत्ति के विरुद्ध जन-प्रचार एव विरोधी आन्दोलन भी होते हैं। इन सबका इस वृत्ति के उन्मूलन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

(४) कठोर पुलिस निरीक्षण (Strict police supervition)—सन्देहपूर्ण चरित्र के पुरुषो एव स्त्रियो पर पुलिस बड़ी निगरानी रखती है। वहाँ की पुलिस इस सम्बन्ध मे शिथिल न होकर बड़ी दृढता के साथ काम लेती है। साथ ही वहाँ यह भी ध्यान रखा जाता है कि वेश्यावृत्ति के विरुद्ध लड़ाई ही, वेश्याओं के विरुद्ध (prostitute) लड़ाई न बन जाये। वे उस बुराई की जड को पकड़ने का प्रयत्न करते है, उनका काम हमारे यहाँ के सामाजिक कार्य-कर्त्ताओ का सा नही होता जो कि केवल प्रेस में रिपोर्ट देने भर के लिये कुछ इधर-उधर देख लिया और फिर अगली वर्ष की रिपोर्ट देने के आने वाले समय तक सोते रहे।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इस सम्बन्ध मे रूस ने वास्तव में बड़े-बड़े कदम उठाये है। कहा जाता है कि चीन ने दो वर्ष के अन्दर-अन्दर अपने यहाँ वेश्यावृत्ति को एक बहुत बड़ी हद तक समाप्त कर दिया था। अस्तु, भारत में भी इस समस्या को समाप्त किया जा सकता है, यदि हम कटिबद्ध होकर तत्पर हो जावें। इस सम्बन्ध मे हमारे यहाँ प्रयत्न प्रारम्भ भी हो गये हैं।

---

1. "The prostitute should be pitied, not punished and every effort should be made to educate her."

अध्याय ६

मद्यपान

(Alcoholism)

कहा जाता है कि गुरु नानक जब एक बार बाबर के राज्य की सीमा पर से अपने साथियों सहित गुजर रहे थे तो बादशाह ने उन्हें बन्दी बना लिया। कोई बात नहीं, बन्दी बना के उन्हें जेल में डाल दिया। अब कुछ समय बाद बादशाह को बाबा का ध्यान आया और राजकर्मचारियों को उन्हें अपने समक्ष पेश करने की आज्ञा दी। बात कुछ ऐसे बनी कि जिस समय नानकजी को बन्दी के रूप में बादशाह के समक्ष लाया गया उस समय शाह अपने कुछ साथियों सहित शराब के दौर में मग्न थे। बाबा को देख उन्होंने एक प्याला बाबा की ओर भी बढ़ाया और कहा कि लो बाबा आज तुम भी पीयो। जानते हो बाबा का क्या जवाब था। बाबा ने कहा बादशाह ! तुम तो यह व्यसन कर रहे हो जो थोड़ी देर को ही मस्त बनाता है किन्तु मैं वह व्यसन किये हुए हूँ जो मुझे कदम-कदम पर मस्त बनाये हुए है, क्षण-क्षण पर मस्त बनाये हुए है। अस्तु मेरे लिये यह तुम्हारी तुच्छ शराब मुबारिक न होगी।

उपर्युक्त कथा के कहने का तात्पर्य है कि भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि में केवल दो ही व्यसन सर्वमान्य है, चिरन्तन हैं, नित्य हैं, शाश्वत हैं और वे हैं प्रथम हरि-पद-शरण व्यसन और द्वितीय विद्याभ्यास व्यसन। शेष सारे व्यसन यथा शराब आदि तुच्छ है, निम्न है, अवाञ्छनीय हैं।

मद्यपान क्या है ?

मद्यपान का शाब्दिक अर्थ है मादक द्रव्य का पान। दूसरे शब्दों में किसी भी नशीली वस्तु का उपभोग इस दृष्टि से मद्यपान कहलाने का अधिकारी है। ध्यान रहे यह हमने सामान्य बात कही। पर इसमें कई उलझनें

पैदा हो जाती है। दृष्टान्तवत क्या भांग पीना मद्यपान है ? क्या गांजा चरस आदि का पान मद्यपान की श्रेणी मे आता है ? क्या अफीम या तम्बाकू मद्यपान मे सम्बन्धित वस्तु हैं ? यह कुछ ऐसी बातें हैं जिन्होंने मद्यपान का अर्थ बड़ा जटिल बना दिया है। अतः अपने विषय पर अधिकारपूर्वक आगे बढ़ने के पूर्व यह परम आवश्यक है कि मद्यपान की एक निश्चित एवं स्पष्ट परिभाषा कर ली जाय।

परम्परागत रूप में आते हुए वास्तव मे मद्यपान शब्द का अर्थ बड़ा ही सीधा सा है और वह है शराब पीना। अस्तु, हमारा भी यहाँ मद्यपान से तात्पर्य अधिक विस्तृत न होकर केवल शराब के पीने तक ही सीमित है। अब वह शराब चाहे ताड़ी की हो, चाहे गुड़ की, अंगूर की हो चाहे जौ की, अर्थात चाहे किसी भी वस्तु की क्यो न हो।

भारत और मद्यपान

हाल की ताजी खबरो के अनुसार भारत मे मद्यपान का प्रयोग दिन-प्रतिदिन बढता जा रहा है। एक समाचार पत्र के अनुसार केवल देहली में ही ५००० से अधिक परिवार शराब बनाने के कारोबार मे लगे हुए हैं। यह तो केवल एक शहर की बात कही। अब निश्चित ही है कि उपभोग के अनुपात में ही उत्पादन भी बढता है। अत कहना ही होगा कि शराब पीने की आदत दिन पर दिन भारतवासियो को अधिक से अधिक अपना शिकार बनाती जा रही है। फिर मजाक इस बात का है कि इस सम्बन्ध मे भारतीय सरकार का कोई केन्द्रीय विधान उपलब्ध नही। परिणामस्वरूप कुछ राज्यों मे मद्यपान की आज्ञा है और कुछ राज्यो मे मद्यपान निषिद्ध ठहरा दिया गया है।

पश्चिमी समाज की स्थिति इस सम्बन्ध में और भी अधिक नाजुक है। मोरर (Mowrer) महोदय का कहना है कि वहाँ अत्यन्त हर्ष तथा अत्यन्त खेद के अवसरो पर (occassions of extreme happiness & extreme sorrow) मद्यपान वर्जित नही। वैसे कितनी शराब पीयी जा सकती है इस सम्बन्ध मे कोई एक सर्वमान्य कसौटी नहीं यह सापेक्ष बात है, वैयक्तिक बात है। सामान्य रूप में केवल यही कहा जा सकता है कि जहाँ तक शराब पीने से व्यक्ति का आन्तरिक तथा बाह्य व्यवहार असन्तुलित नही होता वहाँ तक इसका प्रयोग अनुचित नही। किन्तु जहां पर यह व्यक्ति के व्यवहार को भंग करती है वहाँ निस्सन्देह ही इसका प्रयोग वर्जित है।

उत्पत्ति

शराब पीना व्यक्ति ने कब से प्रारम्भ किया यह जानना एक महत्त्वपूर्ण विषय है। यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि इसका प्रयोग परम अतिप्राचीन है। समझा जाता है कि व्यक्ति जब अपनी जंगली अवस्था में था तभी से जंगल में उसे जो कुछ भी मिलता उसको वह खाने के लिये प्रयोग करता। धीरे-धीरे शीत ऋतु में उसने पाया कि कुछ जड़ी बूटियाँ एवं जंगली वनस्पतियाँ ऐसी है जिनके खाने या पीने से जाड़ा नहीं लगता। यहाँ यह बतला देना अभीष्ट है कि लगभग सभी नशीले पदार्थ गर्म होते हैं। अस्तु, प्रारम्भ में मनुष्य ने इसका प्रयोग जाड़े में अपनी रक्षा करने के लिये किया। किन्तु ज्यों ज्यों वह आगे बढ़ता गया उसने इन वस्तुओं के प्रयोग में आने वाले नशे की पहचान की। इसके बाद इन वस्तुओं का उपभोग शौकीनी रूप में भी होने लगा और इस रूप में यह आज तक भी होता चला आ रहा है। आज इसका प्रयोग व्यक्ति शौकिया रूप में करता है। फिर पीते-पीते वह इसका अभ्यस्त हो जाता है, आदतन शराबी बन जाता है।

मद्यपान सम्बन्धी सिद्धान्त

कहना न होगा कि मद्यपान व्यक्ति की समाज व्याधिकीय (socio-pathological) दशा का प्रतीक है। दूसरे शब्दों में यह वैयक्तिक विघटन का परिणाम एवं उसके लिए उत्तरदायी दशा दोनों ही है।[1] यही कारण है कि कुछ मनो-वैज्ञानिकों, मनोविश्लेषकों एवं समाजशास्त्रियों ने इस सम्बन्ध में अपनी-अपनी व्याख्या प्रस्तुत की है। इन सभी विद्वानों के समक्ष प्रमुख समस्या रही है कि क्यों कुछ ही लोग शराब पीते है, सभी क्यों नहीं ? यह व्याख्याएँ अधोलिखित है—

(१) शरीर सम्बन्धी व्याख्या (Physiological Approach)—उपभोग की जाने वाली हर वस्तु शरीर से अपना सम्बन्ध स्थापित करती है। इसी प्रकार शराब भी जो उपभोग्य वस्तु है, का शरीर से सम्बन्ध दो रूपों में देखा जा सकता है—

(अ) प्रथम दृष्टिकोण से देखते हुए हम कह सकते है कि मद्यपान को सहन करने की शारीरिक क्षमता और मद्यपान में घनिष्ट सम्बन्ध है। कहना

1. "Drink is thus both a symptom and a cause of personal disorganiaztion."
—*Sutherland.*

न होगा कि मद्य सहन करने की क्षमता एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में फरक खाती है। एक व्यक्ति एक ही साथ चार प्याले पी सकता है और दूसरा व्यक्ति एक से अधिक किसी दशा मे नहीं। कहा जाता है कि यह क्षमता आनुवंशिक है। अस्तु, जिन व्यक्तियों में यह क्षमता अधिक पायी जाती है उनमें ही यह आदत भी अधिक देखने को मिलती है।

(ब) इस सम्बन्ध मे द्वितीय दृष्टिकोण बतलाते हुए हम कहेंगे कि यहाँ शरीर का प्रतिबन्धित सिद्धान्त (conditioning theory of organism) परम महत्त्वपूर्ण है। सरल शब्दो मे कहा जा सकता है कि कुछ समय तक नियमित रूप से शराब पीने पर रक्त की नाड़ियों में शराब का मिश्रण हो जाता है। फिर यदि किसी प्रकार शराब न मिले तो उसके अभाव से एक प्रकार के विक्षोभ एव चिड़चिड़ाहट को जन्म मिलता है। इस दशा मे बेकन (Bacon) महोदय का कहना है कि अधिकतर व्यक्ति शराब से घृणा करते हुए भी उसे छोड नही पाते।[1] सदरलैण्ड के अनुसार स्नायुतन्तुओं पर मद्य के प्रभाव के कारण व्यक्ति बड़ी शिथिलता का अनुभव करता है।[2]

अस्तु हमने देखा कि उपर्युक्त व्याख्याएँ वास्तव मे शराब एव उसके प्रतिमान के प्रति एक प्रकार की शारीरिक प्रतिक्रिया की चर्चा करती हैं। किन्तु वे यह स्पष्ट नही करती कि ऐसे व्यक्ति शराबी क्यो बन जाते है।

(२) मनोवैज्ञानिक व्याख्या (Psychological Approach)—इसे भी भिन्न-भिन्न विद्वानो ने भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखा है—

(अ) प्रथम व्याख्या के प्रतिपादक है विटमैन (Wittman) महोदय, उनके विचार मे मद्यपान का साहचर्य मातृनिश्चयता (mother fixation) से है। कहने का तात्पर्य है कि जहाँ पितृसत्ता सर्वत. प्रधान होती है और बालक पूर्णरूपेण माता पर आश्रित रहता है वहाँ इसका महत्त्व अवलोकनीय है। अधिक स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि ऐसे व्यक्ति के लिये जो मातृनिश्चयता (mother fixation) का शिकार है, मद्यपान ही

1. "Most alcoholics hate liquor, hate dirnking, hate the taste, hate the result, hate themselves for succumbing, but they can't stop." —*Bacon*

2. "Alcohol does more than depress the nerve centres that cause the person to feel fatigued." —*Sutherland.*

उनसे बचने का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। इस प्रकार पुनरावर्तित रूप से मद्य का प्रयोग कर व्यक्ति उसका अभ्यस्त बन जाता है।

(ब) अब द्वितीय व्याख्या है स्ट्रेकर (Strecker) महोदय की। उनके मत मे जिन व्यक्तियो की तरुणाई मे कुछ विघ्न बाधाएं एव बन्धन आते है और साथ ही जिनके मन मे आत्महीनता की भावना (feeling of inferiority) घर कर जाती है उन व्यक्तियो के लिये मद्यपान सान्त्वना देने वाला एक अच्छा साधन है। वे स्वय कहते हैं कि "शराबी वह व्यक्ति है जो बिना मद्य का प्रयोग किये वास्तविकता का मुकाबिला नही कर सकता और साथ ही जब तक पीता है तब तक भी वास्तविकता से अपना सामञ्जस्य नही कर सकता।"[1]

(स) इस सम्बन्ध मे तृतीय मनोवैज्ञानिक व्याख्या का केन्द्र-बिन्दु है "मनोव्याधिकीय व्यक्तित्व" (psychopathic personality)। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि शारीरिक बनावट के दोष के कारण व्यक्ति मे एक प्रकार की अपर्याप्तता की भावना (feeling of inadequacy) आ जाती है। इस व्याख्या के अनुसार इस अपर्याप्तता की भावना की क्षतिपूर्ति के रूप मे ही व्यक्ति शराब पीता है। यही पर यह भी ध्यान रखना होगा कि ऐसे व्यक्ति मे शराब को सहन करने की अधिक क्षमता होती नही। अस्तु परिणाम होता है मनोव्याधिकीय व्यक्तित्व। इस प्रकार हम देखते है कि मनोवैज्ञानिक व्याख्या के अनुसार मद्यपान के द्वारा व्यक्ति किसी न किसी प्रकार की कमी को पूरा करने की कोशिश करता है।

(३) मनोविश्लेषणात्मक व्याख्या (Psychoanalytical Approach)—यहाँ हम एडलर (Adler), फ्रायड (Freud) एव मैनिन्जर (Maninger) महोदय के मद्यपान सम्बन्धी मत देखेंगे—

(अ) एडलर महोदय का विचार है कि वे व्यक्ति जो समाज मे अपनी भूमिका (role) ठीक प्रकार से अदा नही कर पाते मद्यपान का आश्रय लेते हैं। उनके अनुसार ऐसे व्यक्ति अपने मे शक्ति लाने के लिये शराब का प्रयोग करते हैं। एडलर के ही शब्दो मे सम्भव पराजय और चुनौती से बचने के लिये

---

1. "Alcoholic is a person who can not face reality without the use of alcohol and yet can never adequately adjust to reality so long as he drinks." *Strecker.*

(२) काम को अच्छी प्रकार निभाने के लिये—बहुधा सुनने में आता है कि कोई-कोई न्यायाधीश महोदय शराब के नशे में जितना न्यायपूर्ण निर्णय देते हैं उतना वे अपनी सामान्य दशा में नहीं दे पाते हैं। इसके लिये कारण यह बतलाया जाता है कि साधारण अवस्था में उनके मन में पक्षपात तथा पूर्वाग्रह निर्णय को प्रभावित कर जाते हैं जब कि नशे की दशा में वह इन सब चीजों को भूल जाते हैं। इतना ही नहीं आज अनेकों ठेला व गाड़ी-चालक आदि भी

(escape from challenge & possible defeat) ऐसे लोग मद्यपान का आश्रय लेते हैं। इस प्रकार एडलर जी का विश्लेषण व्यक्तिगत मनोविज्ञान पर आधारित है।

(ब) फ्रायड महोदय का इस सम्बन्ध मे मत वतलाने के पहले यह कह देना अनिवार्य है कि उनकी समस्त व्याख्याएँ लिबिडो (Libido) सिद्धान्त से घिरी हुई है। उन्होने लगभग समस्त वातों की व्याख्या काम-भावना (sex-feeling) मे खोजी हैं। इसी वात को ध्यान मे रखते हुए हम कह सकते हैं कि फ्रायड महोदय के अनुसार मद्यपान "समलिंगीय सम्वन्धों की भावना" (feeling of homosexuality) का प्रकाशन है। स्पष्ट शब्दों मे व्यक्ति अपने समलिंगीय सम्वन्धों के प्रतिस्थापन के रूप में शराव का प्रयोग करता है।

(स) मैनिन्जर महोदय के अनुसार मद्यपान आत्महत्या का प्रतिस्थापन है। दूसरे शब्दों मे जो कारण आत्महत्या की ओर व्यक्ति को खींचते हैं वे ही जव जिन्दा रहने की कामना के वशीभूत हो जाते हैं तो शराब का प्रयोग कर अपनी तुष्टि पाते है। एक अर्थ में यह व्यक्ति में पातक की भावना (feeling of guilt) की उपस्थिति की ओर भी सकेत देता है। आखिर व्यक्ति आत्महत्या के द्वारा अपनी परेशानियो से छुटकारा ही तो पाना चाहता है। यही छुटकारा व्यक्ति इधर शराव पीकर थोडी देर को मदहोश होकर प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार मद्यपान कर व्यक्ति जीवित भी रहता है और साथ ही अपने को कुछ समय के लिये चेतना-विहीन वनाने की इच्छा द्वारा मारने का भी प्रयत्न करता है।

(४) मनोसास्कृतिक व्याख्या (Psychocultural Approach)–इस सिद्धान्त के अनुसार मद्यपान का कारण व्यक्तित्व और भूमिकाओ का असगत सामञ्जस्य (maladjustment) है। सदरलैण्ड महोदय ने भी कहा है "शराबी वह व्यक्ति है जो एक पर्याप्त सामाजिक सामजस्य को करने मे असफल रहा है।"[1] इस प्रकार यह वात सास्कृतिक एव सामाजिक अधिक है अपेक्षाकृत मनोवैज्ञानिक अथवा शारीरिक के। पश्चिम मे तो इस सम्वन्ध मे स्पष्ट सकेत मिलते है। वहाँ निस्सन्देह सास्कृतिक दशाएँ ही मद्यपान को प्रोत्साहित करती है। इस प्रकार स्पष्ट ही है कि मद्यपान का सम्बन्ध

---

1. "The alcoholic is a person who has failed to make an adequate social adjustment." —*Sutherland.*

(२) काम को अच्छी प्रकार निभाने के लिये—बहुधा सुनने में आता है कि कोई-कोई न्यायाधीश महोदय शराब के नशे में जितना न्यायपूर्ण निर्णय देते हैं उतना वे अपनी सामान्य दशा में नहीं दे पाते हैं। इसके लिये कारण यह बतलाया जाता है कि साधारण अवस्था में उनके मन में पक्षपात तथा पूर्वाग्रह निर्णय को प्रभावित कर जाते हैं जब कि नशे की दशा में वह इन सब चीजों को भूल जाते हैं। इतना ही नहीं आज अनेकों ठेला व गाड़ी-चालक आदि भी

शराब पीकर, अपने काम को सभालते है। अस्तु स्पष्ट ही है कि अनेको
काम को अच्छी तरह निभाने के लिये शराब का प्रयोग करते हैं।

यहाँ एक बड़ा जबर्दस्त प्रश्न उठता है और वह है कि नशे की
मे तो व्यक्ति को चेतना-विहीन होना चाहिये किन्तु फिर वे लोग अपना
अच्छी तरह कैसे कर पाते है। इस सम्बन्ध मे दो बातें जानने योग्य है—
ता है नशे की मात्रा और दूसरी है उनकी प्रारम्भ से ही आदतन मजबू
यही दो विशेष बातें हैं जिनके कारण कि ऐसे लोग अपना काम अच्छा
पाते हैं।

(३) यौन-सुख में उत्तेजना लाने के लिये—कहा जाता है कि मद्य
के उपरान्त अच्छे-अच्छे व्यञ्जनों की कामना जागृत होती है और उसके
सुलगती है वासना की क्षण प्रतिक्षण बढ़ने वाली आग। अस्तु, अनेकों व
वेश्यागामी तथा उच्च परिवार के अत्यधिक कामुक पुरुष विषयभोग मे अ
आनन्द लेने के लिये भी मद्य का उपभोग करते हैं। यह तो एक सर्ववि
तथ्य है कि प्राचीन काल के राजे महाराजे अपने मनोरंजन के लिये शराब
प्याले पर प्याले चढ़ा नृत्य एव सगीत आदि का आनन्द लेते थे और तदुपर
करते थे अपनी यौन-क्षुधा की पूर्ति। इस प्रकार यहाँ शराब का प्रयोग आमं
प्रमोद मे एक नया रग लाने वाले एव एक अजब गजब ढाने वाले साधन
रूप मे किया जाता है।

(४) विचित्रता के अनुभव के लिये—कहना न होगा कि प्रारम्भ
अनेकों व्यक्ति केवल कौतूहलवश इसका प्रयोग करते हैं। फिर अक्सर इ
बात को तूल देकर कि दुनिया मे जितनी भी चीजें हैं मनुष्य को उन सब
कम से कम स्वाद तो अवश्य चखना चाहिये अनेकों व्यक्ति इस अवाञ्छन
आदत के न चाहते हुए भी शिकार बनते है। इस प्रकार प्रयोगात्मक अवस्
(experimental stage) से गुजर कर अनेक लोग इसके भक्त ब
जाते हैं।

(५) औषधि सेवन से अभ्यास—अनेको दवाइयाँ ऐसी होती
जिनमे शराब का कुछ अश मिला होता है और साथ ही किसी-किसी बीमा
के लिये स्वय शराब को ही दवा के रूप मे प्रयोग किया जाता है। इस प्रका
प्रारम्भ मे कुछ व्यक्ति मद्य का औषधि के रूप मे सेवन करते हैं। फिर अपन
भूल से इसे अपने लिये अच्छी हालत मे भी लाभदायक मानकर इसके शौकी
बन जाते है और इसी प्रकार अभ्यासी भी।

(६) दुखों से ऊबकर शान्ति पाने के लिये—बहुधा कहा जाता है जीवन दुख की गठरी है। रवीन्द्रनाथ टाकुर ने भी यही कहा है।[1] अतः न्दगी में बहुधा आने वाले सकटकालीन थपेड़ों तथा सर्वदा प्रवाहमान शानियों की लहरों से साहस के साथ जूझना हर व्यक्ति के वश की बात ी। परिणामस्वरूप व्यक्ति इनसे किसी भी प्रकार मुक्ति प्राप्त करना चाहता । अतः इस लक्ष्य की प्राप्ति वह मद्यपान कर थोड़ी देर को बेसुध हो ल्लतया कर लेता है।

यहाँ फिर एक जटिल प्रश्न उठता है कि दुख का आधिक्य तो अनेक क्तियों की जिन्दगी में होता है लेकिन वे सभी तो शराबी नही होते। इसके त्तर के लिये इतना मात्र कथन पर्याप्त है कि कई कारक मिलकर ही व्यक्ति ो इस ओर आने के लिये प्रेरित करते हैं, कोई अकेला कारक नही। बहुधा न व्यक्तियों के जीवन में ऐसे कुछ कारक मिल जाते है तो उनकी मद्यपान ी ओर आकृष्ट होने की हजार सम्भावनाएँ पैदा हो जाती हैं। अब इन अन्य ारकों मे हम उनकी मद्यपान सहन कर पाने की क्षमता आदि की चर्चा कर कते हैं।

(७) धार्मिक अनुष्ठान—भारतीय पृष्ठभूमि के प्रकाश में कुछ धर्मों : अनुसार कुछ देवियों का पूजन अपने आप में निराला ही है। उनकी पूजा के लये आवश्यक सामग्री है नर बलि, पशुबलि एव शराब। अब जब देवी जी को ी शराब पसन्द है तो उनके भक्त, उनके मानने वाले कब उस चीज को बुरा ानेंगे। फिर जब देवी जी का शराब का भोग लगता है तो भक्तों को प्रसाद ीकार करना ही होगा। इस प्रकार अनेकों व्यक्ति धार्मिक अनुष्ठान से प्रेरणा ाप्त कर शराब के प्रयोग को बल देते हैं। विशेषकर यह भारत के दक्षिण में धिक देखने को मिलता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि मद्यपान के प्रसार के लिये र्मिक कारण भी एक बड़ी हद तक उत्तरदायी है।

(८) सांस्कृतिक कार्यक्रम—बहुधा अखबारों एव पत्रिकाओं मे सम्पादकीय मे पढ़ने को मिलता है "कवि सम्मेलन और शराब।" अनेक प्रकार की आलोचनाएँ आती हैं जो इस बात के स्वयसिद्ध प्रमाण हैं कि किस प्रकार आज के कवि तथा शायरों आदि के बीच मद्यपान एक फैशन हो गया है।

---

1. "Life is full of eating and beating where beating predominat
—*Ravindra Nath.*

इतना ही नही अनेकों संगीतज्ञ भी ऐसे ही पाये जाते हैं जिन्हें बिना नशा किये कुछ सुनाने में मजा नही आता और साथ ही जब तक वो नशा नही करते उनकी चीज में सुनने वालों को भी मजा नही आता। फिर आजकल के क्लब तो मद्यपान के माने हुए केन्द्र हैं ही। इस प्रकार हम अच्छी तरह देखते हैं कि ये सारे सास्कृतिक कार्यक्रम किस प्रकार मद्यपान की प्रवृत्ति को बढ़ावा देते हैं।

(६) संगति—इस बात को प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार करेगा कि मनुष्य पर संगत का आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ता है। किसी व्यक्ति की सोहबत सन्तों की है तो उसमें वैसे ही आध्यात्मिक विचारों का दरिया बहेगा और यदि किसी की सोहबत शराबियों की है तो वह एक दिन शराब पीने से बचेगा, दूसरे दिन बचेगा, तीसरे दिन बचेगा आखिर चौथे दिन उसे लेनी ही पड़ेगी। फिर व्यक्ति जहाँ एक बार शराब देवी के चक्कर में फँसा तो निकल पाने के द्वार बहुत ही सकीर्ण होते जाते हैं। सरल शब्दों में फिर तो वह उसी का पुजारी बन जाता है।

मद्यपान के दुष्परिणाम (Evils of Drinking)—

आगे बढ़ने के पूर्व यह बतला देना आवश्यक है कि मद्यपान वैयक्तिक विघटन का एक परम विचारणीय पहलू है। जहाँ तक इसके दुष्परिणामों का प्रश्न है मेरी समझ मे उन पर अच्छी खासी पुस्तक लिखी जा सकती है। किन्तु हम यहाँ सक्षेप मे इसके कुछ ही अवाञ्छनीय प्रभावो का सकेत देते है।

(१) शारीरिक पतन (Physical degeneration)—जैसा कि सकेत दिया ही जा चुका है कि मद्य शरीर मे विकार को उत्तेजित करता है। इस प्रकार उसके सयम को नष्ट कर उसे नर से नारायण बनाने के बजाय नर से पशु बनाने मे सहायक होता है। फिर अनेको मनुष्य शराब के अधिक पीने के कारण अनेको बीमारियो के शिकार भी बन जाते हैं।

कभी-कभी व्यक्ति अत्यधिक मद्यपान के कारण आत्महत्या भी कर बैठता है। इस प्रकार यहाँ तो यह केवल शारीरिक पतन का ही कारण न बनकर जीवन लेने वाला भी हो जाता है। यह कोई पूर्व कल्पनात्मक सिद्धान्त-मात्र नही है अपितु अनुभव द्वारा सकलित किया गया यथार्थ तथ्य है।

फिर कभी-कभी शराब के अत्यधिक नशे मे बेसुध हो इधर-उधर गिरकर भी व्यक्ति अपनी शारीरिक क्षति कर लेता है।

(२) मानसिक पतन (Mental deficiency)—मनस् का वाहक शरीर है। अतः सामान्य शब्दों मे कहा जा सकता है कि शारीरिक पतन मानसिक पतन को भी राह देता है। फिर और भी सरल शब्दों मे स्पष्ट करते हुए कह सकते है कि शराब पीने से मस्तिष्क के स्नायुतन्तु सुप्त पड जाते हैं जो इसी प्रकार नियमित रूप से मद्यपान से सुप्त होते-होते एक अवधि मे जाकर बहुधा सुप्त ही बने रहने लगते हैं। इससे व्यक्ति की चिन्तन शक्ति क्षीण होती है एव अध्ययन शक्ति नष्ट। मैंने स्वय कई ऐसे व्यक्ति देखे हैं जो अत्यधिक मद्यपान के कारण अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठे हैं। अत शराब के प्रयोग से मानसिक दुर्बलता की और इससे अधिक साक्षी क्या दी जा सकती है।

फिर और भी कुछ नहीं तो कम से कम उतने समय के लिये व्यक्ति की चिन्तन की क्षमता अवश्य क्षीण हो जाती है जब तक कि वह मद्य के नशे मे है। ऐसी स्थिति मे कभी-कभी बडे अजीबोगरीब कारनामे ढह जाते हैं। मुझे कुछ ऐसे राजनैतिक क्षेत्र के व्यक्तियो का पता है जिन्होंने अपने पक्ष मे मत (Vote) लेने के लिये मतदाताओं को कुछ रुपये दिये और फिर कुछ क्षण बाद उन्हें शराब पिलाकर मदहोश कर अपने किसी साथी से ही दुगने रुपयों का रुक्का लिखा उस पर हस्ताक्षर ले लिये। नतीजा यह हुआ कि उन्हें मत तो अपने पक्ष मे मिल ही गया साथ ही दिये गये रुपयों से दुगने रुपये भी वे कचहरी मे जा उनसे वसूल कर लेते हैं। अस्तु यह सब भ्रष्टाचार केवल शराब देवी की बदौलत स्थान पाता है।

अन्त मे इसके मानसिक पतन को प्रोत्साहित करने का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि जैसा कि सकेत दिया हो जा चुका है अनेको व्यक्ति चिन्ता से मुक्ति पाने के लिये मद्यपान करते है। कहना न होगा कि जब तक व्यक्ति चैतन्य है वह अपनी चिन्ताओं से मुक्त नहीं हो सकता। अत उसे अपनी चिन्ताओं से छुटकारा पाने का एक ही उपाय है और वह है चिन्तनशक्ति की अस्थायी एव सामयिक क्षीणता या दुर्बलता। दूसरे शब्दों मे ऐसी दशा मे व्यक्ति पेड़ पर से गिरने से बचने के लिये एक ऐसी डाल पर आकर आश्रय लेता है जिसे वह स्वय ही अपनी बेसुधी मे अनायास रूप से काट रहा होता है। अस्तु इस सबका आखिरी परिणाम होता है मानसिक दुर्बलता एव बौद्धिक पतन।

(३) आर्थिक हानि (Economic loss)—मद्यपान अनेकों रूपों से आर्थिक हानि का साधन है। प्रथम तो हम कह सकते है कि व्यक्ति अपनी

थोडी देर के लिये अवान्छनीय एवं आरोपित मस्ती के विचार से खरीद आर्थिक हानि का शिकार बनता है। उस पर भी मजा इस बात कि व्यक्ति यह जानते हुए भी कि इससे कोई लाभ नही होना है विपरं इससे अनेकों बुराइयाँ ही पैदा होगी और साथ ही यह भी जानते हुए कि इ पीना बिल्कुल भी तो आवश्यक नही, बल्कि विपरीततः पूर्णरूपेण अनावश्यक वह इसे पीये बिना मानता नहीं। यह कोई ऐसी वैसी बात नही अपितु सार्वजनिक तथ्य है। अब यदि व्यक्ति जितने पैसे इधर शराब मे व्यय करत उतने किसी अच्छे काम मे लगाये या उन भूखो मरने वालो को जिन्हें ए एक टुकड़ा भी हजार फटकार के बाद मुबारक हो पाता है, दे, तो वह कित भलाई का पात्र बने।

फिर अर्थशास्त्री की नजर से देखते हुए हम कह सकते हैं कि यी एक बोतल एक व्यक्ति ने पीयी तो इसका तात्पर्य है उसने दो सेर अगूरो क दुरुपयोग किया। अब यदि वे ही अगूर किसी दूसरे देश को भेजे जाते त उनसे जो कुछ भी वापसी मे प्राप्त होता वह राष्ट्र की उन्नति मे सहायक होता। माना यदि दूसरे देश को भी नही भेजे जाकर उन अगूरो का ही बजाय उनकी दुर्गति किये असली रूप मे उपभोग किया जाता तो वे शारीरिक, मानसिक एव सभी दृष्टियों मे कितने उपयोगी सिद्ध होते। केवल इतना ही नहीं अपितु अगूरो से या किसी भी वस्तु से शराब बनाने की प्रक्रिया मे जितना समय लगा, जितने मनुष्य लगे वे सभी एक प्रकार से राष्ट्रीय स्तर पर बेरोजगारो की श्रेणी मे आये, क्योकि जिस चीज का कोई सही उपयोग ही नहीं है, लाभ ही नही है, उसका होना और न होना बराबर है। विपरीतत: उसमे हानि रहने के कारण उसका न होना अच्छा ही है।

केवल इतना ही नहीं अपितु यह अनेको प्रकार की बुराइयो को बढ़ावा देकर राष्ट्रीय हानि मे भी वृद्धि करती है। इस प्रकार यह उत्पादन को हानि पहुँचाकर आर्थिक हानि का मार्ग प्रशस्त करती है जो राष्ट्रीय स्तर पर एक बहुत बड़ी हानि मानी जा सकती है।

(४) राजनैतिक भ्रष्टाचार—हम पीछे संकेत दे ही आये हैं कि [illegible] राजनैतिक नेता अपने पद में मत जीतने के लिए [illegible] और [illegible] अनैतिक साधनों का सहारा लेते हैं। परिणामस्वरूप वह कुछ [illegible] [illegible]

नहीं तो गौण कारक अवश्य बनते हैं। यह सब किस हद तक राष्ट्रीय विकास एवं स्वास्थ्य को प्रभावित करता, बतलाना आवश्यक नहीं।

(५) **सामाजिक पतन**—समाज एक सामाजिक तथ्य है, एक सामाजिक सम्बन्धों का जाल है। मद्यपान कर आये व्यक्ति को न तो किसी से अपने सम्बन्धों की चेतना रहती है और न सामाजिक प्रतिष्ठा की। इस प्रकार कुछ समय के लिये सम्बन्धों को विनष्ट कर, पशुता की श्रेणी में गिर वह व्यक्ति समाज के आधारभूत अस्तित्व को खतरा पहुँचाता है। बहुधा सुनने में आया होगा कि फलां व्यक्ति शराब पीकर आया और उसने नशे में अपनी पत्नी की अथवा माँ तक की पिटाई की।

फिर आप उस शराबी का चित्र आँखों के सामने लाइये जो शराब पीकर आया हो, नाली में औंधे मुँह पड़ा हो तथा कुत्ते जिस पर पेशाब कर रहे हों। क्या ऐसा व्यक्ति किसी भी दशा में पशु से कम है? क्या पाशविक वृत्तियाँ इस दशा से भी बदतर हो सकती हैं। अस्तु निःसन्देह ही यह सामाजिक विघटन एवं पतन को बढ़ावा देता है।

(६) **नैतिक पतन**—मनुष्य एक विचारशील एवं विवेकशील प्राणी है। अब यदि उसके इन दोनों गुणों का ह्रास हो जाय तो व्यक्ति पशु से अधिक और कुछ भी नहीं रह जाता। हर व्यक्ति जानता है कि मद्यपान के उपरान्त व्यक्ति के सारे ज्ञानतन्तु विच्छृंखलित हो जाते हैं, उसकी सारी विचार-शक्ति क्षीण हो जाती है और वह दानवी वृत्तियों के हाथ एक कठपुतली मात्र बन जाता है। दूसरे शब्दों में उसकी अपनी क्षमताओं पर उसका कोई अधिकार नहीं रह जाता, उसकी अपनी नैतिकता जाती रहती है, उसका अपना अस्तित्व निरर्थक हो जाता है।

किन्तु बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। मद्यपान के उपरान्त नैतिकता के विपरीत व्यक्ति की समस्त विकारयुक्त वृत्तियों में एक प्रकार की उत्तेजना सी आ जाती है, वेग आ जाता है, आवेश आ जाता है। वह नृत्य चाहता है, गान चाहता है और चाहता है विषय तृप्ति। परिणामस्वरूप वह वेश्यालय का रास्ता पकड़ता है। दुहराना न होगा कि यह वैयक्तिक पतन का निकृष्टतम पहलू है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मद्यपान नैतिक पतन का जघन्य मार्ग है।

(७) **सांस्कृतिक पतन**—भारतीय संस्कृति अपने मौलिक रूप में आध्यात्मिक है। आध्यात्मिकता से तात्पर्य है धर्म और नैतिकता के पवित्रता-

र्ण बचपन से । अब शराब इस सन्दर्भ में सिद्ध है, भौतिकता का एक अंग है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उसका उपभोग करना अपनी संस्कृति का त्याग करना है, उसका अपमान करना है तथा उस दृष्टि से अपना पतन करना है ।

(८) प्रत्याशित विकास की हानि—सबस नैतिकता की आधारशिला है । मनुष्य एक नैतिक प्राणी भी है । इधर मद्यपान कर व्यक्ति अपने संयम पर प्रहार करता है और उस संयम पर प्रहार करता है जो उसे नर से नारायण बनाने वाला है, मानव से देवता बनाने वाला है । खैर, इसे हर व्यक्ति विश्वास के साथ स्वीकार करेगा कि यदि मनुष्य शराब का भौतिक्या उपभोग न करे तो एक ओर तो वह उपलिखित इन निम्न बुराइयों से अपनी रक्षा कर सकता और दूसरी ओर अपनी इस प्रकार संरक्षित क्षमताओं का अपने भविष्य को उज्जवलतम बनाने के लिये उपयोग कर सकता है । ऐसा कर व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को तो विघटित होने से बचायगा ही, साथ ही समाज का भी उत्थान करेगा, राज्य का भी उत्थान करेगा और फिर राष्ट्र का भी ।

भारत में मद्य-निषेध की आवश्यकता (Need of Prohibition in India)—

भारत ने अपनी वर्षों की परेशानीपूर्ण दासता के उपरान्त कुछ ही वर्ष पूर्व अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त की है। फिर यह तो कहने की आवश्यकता ही नहीं कि देश के निवासियों के ही हाथ मे ही देश की प्रगति, अगति तथा दुर्गति की बागडोर रहती है । अब यदि भारतीय जन मद्यपान आदि जैसे तुच्छ एव नीच विकारो के शिकार बनेंगे तो भारत विकास पथ पर आगे बढ सकेगा, इसमे सन्देह है । इसलिये शीघ्रातिशीघ्र परम महत्त्वपूर्ण आवश्यकता इस बात की है कि भारत में मद्यपान निषिद्ध किया जाय । यहाँ यह सकेत दे देता अनुपयुक्त न होगा कि जब तक मद्य-निषेध के सम्बन्ध मे उदारता बरती जाती रहेगी, कोई कड़ा कदम नही उठाया जायगा तब तक यहाँ स्वतः ही इसका निषेध हो सकेगा, कभी सम्भव नही ।

तर्क रखा जा सकता है कि पीने वाले तो उस दशा मे भी बिना पीये न रहेगे, चोरी छुपे किसी न किसी प्रकार वे पीयेंगे ही । इसके लिये हमारे दो जवाब है । प्रथम न होगा बांस और न बजेगी बाँसुरी । कहने का तात्पर्य है कि जब शराब के अड्डे ही न रहेगे तो शराब पीयेंगे कहाँ से । द्वितीय, यदि पीयेंगे भी तो आज की दर से तुलनात्मक रूप मे बहुत ही कम ।

फिर जैसा कि हम इसके दुष्परिणामो पर प्रकाश डालते समय कह ही आये है कि इससे आर्थिक उत्पादन भी बुरी तरह प्रभावित होता है भी यहाँ विचारणीय है। हमारे यहाँ उत्थान के उद्देश्य को ले अनेक विकास योजनाएँ चल रही है। ऐसी दशा मे इन योजनाओ की सफलता के लिये इस उत्पादन सम्बन्धी हानि को रोकना और भी अधिक आवश्यक हो जाता है। अस्तु, निष्कर्ष-स्वरूप कहा जायेगा कि जितना शीघ्र हो सके भारत से मद्यपान के व्यवसाय एव वृत्ति को बहिष्कृत किया जाय।

निरोधात्मक उपचार (Remedies)—

इस सम्बन्ध म अधोलिखित सुझाव दिये जा सकते है।

(१) केन्द्रीय स्तर पर कानून—मद्य निषेध के लिये एक केन्द्रीय विधान की अत्यधिक आवश्यकता है। यहाँ हम केन्द्रीय कानून पर इसलिये बल दे रहे है कि इसका प्रान्तीय रूप अपनी पृथकताओ एव भिन्नताओ के कारण उतना प्रभावशाली सिद्ध नही हो सकता जितना कि केन्द्रीय कानून होगा। अत इस सम्बन्ध मे शीघ्र ही सक्रिय होने की आवश्यकता है।

(२) कानून का कठोरता-पूर्वक पालन—केवल कानून बना कर रख देने मे ही कुछ नही हो जायगा अपितु आवश्यकता है उस कानून के पालन मे ढिलाई न आने देने की। फिर इस सम्बन्ध मे किसी भी मूर्तिमान परिणाम की आशा तभी सक रख सकते है जब इसका कठोरता के साथ पालन कराया जाय।

(३) शराब-विरोधी आन्दोलन—कानून जनमत मे तलाक पाकर बहुधा प्रभावशाली नही हो पाता। अस्तु इस कुप्रवृत्ति के समूल निवारण के लिये कानून और जन शक्ति का दृढ सगठन परमावश्यक है। हमारे यहाँ के लोक-कल्याण मन्त्रालय को इस सम्बन्ध मे अपने प्रयास अर्पित करने के अनेक द्वार खुले है।

(४) स्वास्थ्यपूर्ण मनोरंजन के साधन—अनेको व्यक्ति अपने जीवन की उलझनो से परेशान आकर किसी अच्छे मन बहलाने वाले साधन के अभाव के कारण मद्य का आश्रय लेते हैं। अस्तु यदि उन्हे मन बहलाने के इस तुच्छ साधन के स्थान पर कोई स्वस्थ्य साधन मिले तो सम्भवत वे मद्यपान की ओर उन्मुख न हो। अस्तु आवश्यकता है उन महत्त्वपूर्ण मनोरजनो के साधनो का जो व्यक्ति को शराब की ओर जाने का अवसर ही प्राप्त न होने दे।

(५) ताड़ी से प्रतिस्थापन—फिर कुछ समय के लिये आदतन लोगो को शराब के स्थान पर ताड़ी का प्रयोग बतलाया जा सकता है। यह कम से

कम शराब से तो कम ही घातक होता है। किन्तु इसकी भी छूट केवल उन्हीं लोगों लिये होनी चाहिये जिनकी शराब के छोड़ने से किसी घातक बीमारी आदि के शिकार बन जाने की सम्भावना हो।

यहीं पर हम अभी हाल ही में २२ मई १९६० को लखनऊ की मद्य-निषेध जांच समिति की महत्वपूर्ण सिफारिशों की भी कुछ चर्चा कर सकते हैं, जो अधोलिखित हैं—

(१) टिंचर-जिंजर का निर्माण सीमित किया जाय। उसे उतना ही बनाया जाय जितना कि चिकित्सा सम्बन्धी दवाइयों के लिये आवश्यक है।

(२) चीनी के कारखानों से जो शीरा निकलता है उसकी बिक्वाली पर नियन्त्रण रखा जाय क्योंकि इससे शराब बनाई जाती है।

(३) मद्यनिषेध का कार्य पुलिस के सुपुर्द किया जाय जिसमें इस कार्य के लिये विशेष दल हो।

(४) जो व्यक्ति-मद्य निषेध कानून को तोड़ते पकड़ा जाय उसे कड़ी सजा दी जाय। इसके लिये वर्तमान कानून में संशोधन किया जाय।

(५) योजना विभाग के लोगों की सहायता से मद्य-निषेध का प्रचार किया जाय।

अध्याय ७

आत्महत्या

(Suicide)

प्रत्येक युग की कुछ समस्याएँ होती हैं जिनका समाधान खोजते ही खोजते युग बढ़ता है। लेकिन कुछ समस्याएँ ऐसी भी होती हैं जो सार्वकालिक एवम् सार्वभौमिक होती हैं। उनमे भी कुछ (समस्याएँ) सामाजिक होती हैं और कुछ वैयक्तिक। साथ ही कुछ ऐसी भी होती हैं जो सामाजिक एवम् वैयक्तिक दोनो ही प्रकार की होती हैं। यहाँ कहना न होगा कि आत्म-हत्या एक ऐसी ही समस्या है जो सार्वकालिक तो है ही साथ ही सामाजिक और वैयक्तिक दोनो ही प्रकार की है। यह सामाजिक इस अर्थ मे है कि सामाजिक कारको से उत्पादित होती है, फिर मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, कोई भी व्यवहार जो उसके द्वारा सम्पन्न होगा, दूसरो के व्यवहार को भी प्रभावित करेगा। अस्तु, इस प्रकार आत्महत्या जो मनुष्य का व्यवहार है और जो दूसरो के व्यवहार को भी परिवर्तित करती है, स्वभावत: ही सामाजिक समस्या है। आगे यह वैयक्तिक कृत्य तो स्वय सिद्ध ही है, इसके लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नही।

मनुष्य आत्महत्या आदि काल से ही करता चला आ रहा है। हर देश और हर काल मे आत्महत्या के उदाहरण मिलते है। हाँ इतनी बात अवश्य है कि आत्महत्या के प्रति मनुष्य का दृष्टिकोण बदलता रहा है। प्रारम्भ मे आत्महत्या करने वालो के साथ निर्दयता एवम् हिंसापूर्ण व्यवहार किया जाता था। किन्तु पूर्वी देशो मे कुछ प्रकार की आत्महत्याएँ बहुधा सम्मान की दृष्टि से देखी गई। जौहर इसका अच्छा उदाहरण है। अस्तु आत्महत्या सार्वकालिक है।

क्या है ?

प्रश्न उठता है, आत्महत्या क्या है ? ऑक्सफोर्ड शब्दकोष के अनुसार अपने जीवन को स्वयं समाप्त करना आत्महत्या है। परन्तु यह परिभाषा अपूर्ण है, इसके अनुसार तो स्त्रियाँ जिन्होंने इच्छा न रहते हुए भी समाज के द्वारा सती-प्रथा के दबाव में आकर प्राण दिये, आत्महत्या की। आत्महत्या के लिए अपने जीवन को स्वयं लेने के साथ-साथ एक और शर्त भी आवश्यक है। वह शर्त है स्वेच्छा। अस्तु, एन्साईक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (Encyclopaedia Britannica) के अनुसार 'आत्महत्या आत्महनन का स्वैच्छिक एवं प्रयोजनात्मक (intentional) कृत्य है।'[1] अपने देश के कानून के अनुसार भी ऐसा ही कार्य आत्महत्या की श्रेणी में आता है।

यहीं पर एक और उलझन का निराकरण कर देना आवश्यक है। आत्महत्या का प्रकाशन दो रूपों में होता है। प्रथम नियोजित (planned) रूप में। उदाहरणवत् जैनी महात्मा ८० अथवा ९० वर्ष की उम्र पर पहुँच कर शरीर त्यागन कर देंगे। यह आत्महत्या नियोजित प्रकार की है। द्वितीय है किसी व्यक्ति को दण्ड देने के लिये तथा दूसरों का ध्यान आकर्षित करने के लिये आत्महत्या। उदाहरण के लिये, एक पुत्र अपने पिता की क्रूरता से परेशान होकर उसे अपने कृत्य पर पश्चाताप कराने के लिये तथा अन्य पिताओं का अपने पुत्रों के प्रति ध्यान आकर्षित कराने के लिये आत्महत्या करता है। हमारे उद्देश्य से वास्तव में यह द्वितीय रूप ही आत्महत्या का सच्चा रूप है।

आत्महत्या को अन्तिम रूप में हम श्री बेसिल बुन्सेल (Bessil Bunsel) महोदय के साथ स्पष्ट कर सकते हैं। उनका विचार है कि "आत्महत्या की समस्या एक रूप में व्यक्ति की उन तीव्रतम समस्याओं का एक समाधान है, जिनका हल वह और किसी प्रकार नहीं पा सका है।'[2] यह आन्तरिक संवेगात्मक व्याधि के प्रति व्यक्ति का अन्तिम प्रत्युत्तर है। जब व्यक्ति हर प्रयत्न के बावजूद भी अपने को समाज के बुद्धिमान तनाव से नहीं बचा

1 "Suicide is the act of voluntry & intentional self-destruction."

—By, Encycl. paedia Britannica

2. "Suicide is a reaction to problem that apparantly cannot be solved in any other way, it is the final response which a human being makes to inner emotional distress."

—By Bessil Bansel

पाता और ज्यो-ज्यो प्रयत्न करता है त्यो-त्यो उसमे अधिकाधिक फंसता जाता है तो विकल हो उसे वह रास्ता चुनना पडता है। जब व्यक्ति निराशा के अन्धकार के वशीभूत हो तथा जीवन की नीरसता एव कटुता से अब दुनिया की नजर मे अपनी कोई जरूरत रही देखता तो परम स्वाभाविक रूप मे ही वह यह पथ अख्तियार कर लेता है। परिणामस्वरूप गले मे फासी दे, आग लगा, छत से कूद, गोली मार, पानी मे डूब, विषपान कर अथवा रेलगाडी से कटकर अपना विनाश कर लेता है।

आत्महत्या सम्बन्धी उपगम्य (Approaches towards-suicide) - कहने की आवश्यकता नही कि मनुष्य एक विचारशील प्राणी है, स्वभावतः ही वह हर समस्या पर चिंतन करता है, विचार करता है। आत्महत्या की समस्या पर भी अनेक विद्वानो ने विचार कर उसकी व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं। अध्ययन की सुविधा के लिये हम उन्हे दो भागो मे विभाजित कर सकते हैं—मनोवैज्ञानिक (Psychological) एव समाजशास्त्रीय (Sociological)

(i) मनोवैज्ञानिक—अनेक विद्वानो ने जिनमे फायड (Freud), बुजेल (Bunsel) आदि प्रमुख हैं, ने आत्म हत्या की व्याख्या मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओ के विश्लेषण के द्वारा की है। इनमे पहले हम फायड महोदय को देखते है।

फायड महोदय ने इसको दो प्रकार से समझा है। उनका विचार है कि इस सम्बन्ध मे मनुष्य की इच्छाएँ प्रमुख है। (१) मरने की इच्छा (wish to die) एव (२) जीवित रहने की इच्छा (wish to live)। उनके विचार मे इन दोनो ही प्रवृत्तियो (tendencies) मे एक दूसरे पर विजय पाने का सतत प्रयास चलता रहता है। यदि मरने की इच्छा प्रबल पड जाती है तो व्यक्ति आत्मघात कर बैठता है। आत्मघात की प्रक्रिया का विवेचन करते हुए तादात्म्य (identification) शब्द का महत्त्व इस सिद्धान्त के अनुसार परम् महत्त्वपूर्ण है। व्यक्ति अपने दुश्मन मे अपना तादात्म्य स्थापित कर उसकी जगह अपने को जीत कर अपने आपका विनाश कर लेता है। इस प्रकार आत्म-विनाश करने की इच्छा मे किसी की हत्या करने की इच्छा निहित हो सकती है।

फायड के इस सिद्धान्त को मैनिजर (Maninger) महोदय ने और भी आगे बढ़ाकर विस्तृत किया है। वे केवल एक ही इच्छा को लेते है और वह है मरने की इच्छा। इसको वह तीन रूपो मे देखते है, (१) मरने की

इच्छा, (the wish to die), (२) मारने की इच्छा (the wish to kill), (३) मारे जाने की इच्छा (the wish to be killed)। दूसरे शब्दों में पहले व्यक्ति में अपने मरने की सच्ची इच्छा तो होनी ही चाहिये, साथ ही उसमें दूसरे की हत्या करने की इच्छा होती है। किसी भी कारणवश दूसरे की हत्या करने में असफल होने के कारण वह उसके साथ अपना तादात्म्य कर लेता है और आत्महत्या के हिंसात्मक कार्य को अपनी ओर प्रवृत्त करता है। यही मारे जाने की इच्छा का द्योतक है। ध्यान रहे कि इन तीनों की इच्छाओं के सक्रिय होने पर ही आत्महत्या सफल होती है।

बुन्जेल के विचार—इनके अनुसार आत्महत्या उन्ही प्रमेयो (phenomena) का परिणाम है जो वैयक्तिक विघटन को जन्म देते है, अस्तु ये चार कारक प्रस्तुत करते हैं—

(१) भय एवं चिंता (Fear & Anxiety)—इस सम्बन्ध में उनके विचार में एक प्रकार की मानसिक व्याधि जिसे Acrophobia कहते हैं का भी बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका तात्पर्य होता है कि कुछ व्यक्तियों में से अधिक ऊँचाई पर से नीचे देखने की क्षमता कम होती है। वे उस दशा में अपने को नहीं सँभाल पाते और आत्महत्या की शरण में आते हैं।

(२) आत्म-हीनता की भावना और उसकी पूर्ति (Compensation of the feeling of & inferiority complex)—किसी भी वस्तु का अभाव चाहे वह मानसिक हो या भौतिक आत्महत्या की ओर प्रवृत्त करता है। उदाहरण के लिये यदि कोई व्यक्ति सोचता है कि उसे अपनी योग्यतानुसार सामाजिक पद एवं प्रतिष्ठा नहीं मिल पा रही है अपितु विपरीतत लोग उसे हीन दृष्टि से ही देखते हैं तो वह आत्महत्या कर सकता है।

(३) घृणा एवं विरोध (Hatred & Hostility)—यहाँ वहाँ तादात्म्य का महत्त्व आता है। व्यक्ति प्रक्षेपण (introgiction) की विधि से घृणा को अपने ऊपर वापिस लेकर आत्महत्या का सहारा लेता है।

(४) अपराध की भावना (Feeling of guilt)—यहाँ प्रतिकारात्मक (retributrue) भावना प्रबल होती है। व्यक्ति सोचता है कि वह इस संसार में रहने लायक नहीं। उसकी जिन्दगी व्यर्थ है, अर्थहीन है। इस प्रकार आत्मदण्ड (self punishment) की भावना से व्यक्ति आत्मघात करता है।

कुछ मानसिक रोगों के चिकित्सकों का कहना है कि आत्मघात मोनोमेनिया (Monomania) के कारण होता है। मोनोमेनिया वह मानसिक अवस्था है जिसमें मनुष्य के संवेग (emotion) विचार के प्रति सीमा को लांघ जाते हैं। अस्तु संवेग की तीव्रता के परिणामस्वरूप व्यक्ति की मानसिक दशा उसी में विलुप्त प्राय. हो जाती है। ऐसे विचार इसका गुरल (Esquirol), फेररेट (Falret), मोरे (Moarcan) एवं डा० वारडिन (Bourdin) ने प्रस्तुत किये हैं। जोसेत एवं मोरे (Jonsset & Moarcan) ने इसको आगे वर्गीकृत भी किया है। यह अधोलिखित रूप में हैं—

(१) उन्मत्त अवस्था में आत्महत्या (Maniachal)—इसमें व्यक्ति प्रायः मानसिक जगत में रहता है। रोगी काल्पनिक रूप से समाज में अपने मान का कम हो जाना अथवा ऐसी ही किसी प्रकार की हानि की सम्भावना सोच कर, अनियन्त्रित रूप में उन्मत्त हो जाता है और आत्महत्या कर बैठता है।

(२) उदासीपूर्ण आत्महत्या (Melancholia)—इसके अनुसार व्यक्ति जब हर कदम से ठुकराया जाने पर, हर दर से लौटाया जाने पर जीवन के प्रति निराश एवं उदास हो जाता है तो इस ओर मुड जाता है।

(३) अकारण चितायुक्त आत्महत्या (Obsess)—यह आत्मघात् अनुद्देश्य एवं निष्प्रयोजनात्मक रूप का होता है। यहाँ व्यक्ति बिना किसी चिंता के चितायुक्त रहता है। चिंता बिना कारण इतनी तीव्र एवं घातक हो जाती है कि व्यक्ति अपने जीवन का अन्त कर लेता है।

(४) स्वचालित आत्महत्या (Automatic)—इसमें यद्यपि व्यक्ति के मनन में आत्महत्या करने का कोई विचार नहीं होता, किन्तु इसका जीवन अवश्य किसी न किसी दुख से अत्यधिक परिप्लावित प्राय होता है। अब जैसे ही वह व्यक्ति किसी नदी प्रवाह को देखता है अथवा आग की लपटों को पाता है उसमें आत्महत्या की इच्छा यकायक इतनी प्रबल हो उठती है कि वह अनायास ही उस नदी या आग में कूद कर अपनी जान गँवा देता है। यह एक प्रकार के पागलपन की दशा है।

मनोवैज्ञानिक उपगम्यों की आलोचना—उपर्युक्त समस्त मनोवैज्ञानिक विश्लेषणों के प्रति एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि जिन दशाओं को यथा अपर्याप्तता, चिंता, दुख आदि को आत्महत्या के लिये उत्तरदायी बतलाया गया

इच्छा, (the wish to die), (२) मारने की इच्छा (the wish to kill), (३) मारे जाने की इच्छा (the wish to be killed)। दूसरे शब्दों में पहले व्यक्ति में अपने मरने की सच्ची इच्छा तो होनी ही चाहिये, साथ ही उसमें दूसरे की हत्या करने की इच्छा होती है। किसी भी कारणवश दूसरे की हत्या करने में असफल होने के कारण वह उसके साथ अपना तादात्म्य कर लेता है और आत्महत्या के हिंसात्मक कार्य को अपनी ओर प्रवृत्त करता है। यही मारे जाने की इच्छा का द्योतक है। ध्यान रहे कि इन तीनों की इच्छाओं के सक्रिय होने पर ही आत्महत्या सफल होती है।

बुन्जेल के विचार—इनके अनुसार आत्महत्या उन्हीं प्रमेयों (phenomena) का परिणाम है जो वैयक्तिक विघटन को जन्म देते हैं, अतः वे चार कारक प्रस्तुत करते हैं—

(१) भय एवं चिंता (Fear & Anxiety)—इस सम्बन्ध में उनके विचार में एक प्रकार की मानसिक व्याधि जिसे Acrophobia कहते हैं का भी बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। इसका तात्पर्य होता है कि कुछ व्यक्तियों में से अधिक ऊँचाई पर से नीचे देखने की क्षमता कम होती है। वे उस दशा में अपने को नहीं संभाल पाते और आत्महत्या को प्राप्त [illegible]।

(२) आत्म-हीनता की भावना और उसकी पूर्ति (Compensation of the feeling of & inferiority complex)—किसी भी वस्तु का अभाव चाहे वह मानसिक हो या भौतिक आत्महत्या की ओर प्रवृत्त करता है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति सोचता है कि [illegible] सोचानुसार सामाजिक पद एवं प्रतिष्ठा नहीं मिल पा रही है [illegible] विपरीत [illegible] उसे हीन दृष्टि से ही देखते हैं [illegible]।

(३) घृणा एवं विरोध (Hatred & Hostility)—[illegible] (introjection) [illegible] से घृणा [illegible] आत्महत्या का सहारा [illegible]।

(४) अपराध की भावना (Feeling of guilt)—[illegible] (retributive) [illegible] है। [illegible] इस प्रकार [illegible] (self-punishment) [illegible] करता है।

चुनता है। उदाहरणतः कोई व्यक्ति प्रधान मन्त्री का पद प्राप्त करने का इच्छुक हो फिर वह न तो उस पद के योग्य ही है और नही उस पद के मिलने की उसे कोई सम्भावना है। ऐसी दशा मे व्यक्ति बस यही एक रास्ता अपनायेगा।

(४) मानसिक संघर्ष (Mental conflict)—जब व्यक्ति के मन मे दो विरोधी इच्छायें एक साथ ही तृप्ति चाहती हैं और वे दोनो ही समान शक्तिशाली और समान महत्व की हैं साथ ही एक ही समय दोनो की पूर्ति होना सम्भव नही तो ऐसी दशा मे व्यक्ति अपने को खो देने की सोचता है। उदाहरण के लिये एक व्यक्ति को अपनी माँ के प्रति भी पर्याप्त स्नेह है और उतना ही पत्नी के प्रति भी, किन्तु माँ पत्नी को नही चाहती। परिणामस्वरूप व्यक्ति दोनो ही विरोधी इच्छाओं के बीच दब अपने को समाप्त कर लेता है।

(५) जीवन-संगठन का छिन्न-भिन्न हो जाना (Life organisation may be broken)—जब व्यक्ति के जीवन मे कोई अनहोनी घटती है, कोई अप्रत्याशित एव अनिर्णीत दुर्घटना स्थान लेती है तो व्यक्ति का जीवन-संगठन विघटित हो सकता है। इसका आवश्यक है व्यक्ति की उसे सहन कर पाने की असामर्थ्य। पुत्र के देहान्त पर माँ आत्महत्या की ओर बढ़ सकती है।

दुर्खीम के विचार—इन महोदय ने अपनी पुस्तक 'To Suicide' मे अत्यन्त विस्तृत एवम् वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। कहना न होगा कि इनकी विचारधारा का आधारभूत दर्शन समूहवाद (sociologism) एवम् सामूहिक प्रतिनिधित्व (collective representation) है। समूहवाद का सरल अर्थ है हर कार्य का कारण समूह की अन्तःक्रिया मे ही पाया जाता है। उन्होंने व्यक्ति और समाज मे अन्तर किया है और व्यक्ति के स्थान पर समाज का महत्त्व स्वीकार किया है। वे स्पष्ट कहते है कि सामूहिक चेतना वैयक्तिक चेतना से पृथक है।[1]

परिणामस्वरूप आत्महत्या के सम्बन्ध मे दिये गये अपने समय तक के विश्लेषणो को निराधार सिद्ध कर वे अपना समाजशास्त्रीय सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार उन्होंने आत्महत्या की समस्या के विश्लेषणो को पूर्णतः एक नवीन मोड़ दिया है, एक नया प्रकाश दिया है, एक नया प्रयोग दिया है।

---

1. "Collective Consciousness specifically differs from individual consciousness." —*Durkheim*

दुर्खीम महोदय ने आत्महत्या की कोई स्पष्ट परिभाषा न देकर उसे खुदकशी करने वाला एक अन्तर्राष्ट्रीय कार्य कहा है। परिभाषा न देने का कारण आत्महत्या के प्रयोजनों (intentions) एवं उसे बढ़ावा देने वाले कारकों (factors) की विभिन्नता एवं बहुलता है। अस्तु दुर्खीम महोदय ने आत्महत्या की व्याख्या सामाजिक कारकों के रूप में ही की है। यहाँ भूल नहीं जाना चाहिये कि वे सामाजिक तथ्य के मनोवैज्ञानिक आदि विश्लेषणों को मानने को तैयार नहीं। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि "सामाजिक जीवन की व्याख्या के लिये मनोविज्ञान में नहीं अपितु समाज की प्रकृति में ही देखना आवश्यक है।"[1] इस प्रकार उनके अनुसार आत्महत्या एक सामाजिक तथ्य (social fact) है, जिसका विश्लेषण सामाजिक प्रक्रियाओं के विवेचन से ही सम्भव है।

आत्महत्या की सामाजिक प्रकृति को सिद्ध करने के लिये दुर्खीम अपने निरीक्षण एवं परीक्षण के आधार पर तर्क रखते हैं। उनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तर्क है कि बहुधा लगातार वर्षों तक आत्महत्या की दर एक सी ही बनी रहती है, स्थिर रही आती है। अब वे कहते हैं कि वैयक्तिक कारकों जो कि सर्वथा परिवर्तनशील हैं, से इस स्थिरता की उचित एवं सही व्याख्या कैसे संभव है। अस्तु स्पष्टतः ही इसके लिये किसी ऐसे कारक की आवश्यकता है जो स्वयं भी स्थायी हो। और ऐसा कारक सामाजिक कारक ही हो सकता है, वैयक्तिक या मनोविज्ञान आदि नहीं।

इस प्रकार आत्महत्या की सामाजिक प्रकृति स्वीकार कर दुर्खीम परम चातुर्यपूर्ण ढंग से आत्महत्या के तीन रूप देखते हैं—(१) आत्मश्लाघी (Egoistic), (२) परार्थी (Altruistic), (३) अव्यवस्थित (Anomique)।

(१) आत्मश्लाघी (Egoistic)—जैसा कि Egoistic शब्द से स्पष्ट है कि Ego का तात्पर्य है अहम् और अहं का अर्थ है व्यक्ति का अपने आप में ही सीमित हो जाना। यह उस दशा में होता है जब व्यक्ति और समाज के बीच सम्बन्ध ढीले पड़ जाते हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि यह वह स्थिति है जिसमें व्यक्ति देखता है कि किसी को उसकी आवश्यकता नहीं, कोई उसकी ओर आकृष्ट नहीं, हर व्यक्ति अपने-अपने कार्य में ही बेतरह मग्न

---

1. "Not in psychology but in the very nature of society, it is necessary to look for an explanation of social life."
—Durkheim

है। आखिर यह तो स्पष्ट है ही कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। परन्तु जब व्यक्ति के ये सम्बन्ध बने ही नहीं रह पाते, यहां तक कि उसके रक्त-सम्बन्धी भी उसकी देखभाल एवं परवाह नहीं करते तो स्पष्टतः ही सामाजिक प्राणी को इस प्रकार सम्बन्धों के अभाव में जीवित रहना असम्भव सा दीखता है। परिणाम-स्वरूप यह सामाजिक उपेक्षा, सम्बन्धों की तीव्रता का ह्रास तथा सामाजिक पृथक्करण ही इस प्रकार की आत्महत्या के लिये उत्तरदायी है—

इसके समर्थन में दुर्खीम तीन बातें बतलाते हैं—

(१) विवाहित व्यक्तियों की अपेक्षा अविवाहित, तलाक प्राप्त एवं विधुरों में आत्महत्या का प्रतिशत अधिक मिलता है। फिर विवाहितों में भी सन्तान की अनुपस्थिति वाले परिवारों में आत्महत्या का प्रतिशत अधिक मिलता है। कारण स्पष्ट है, क्योंकि जितना-जितना संवेगात्मक सम्बन्धों से परे होता जाता है उतनी ही आत्महत्या की संभावना बढ़ती जाती है।

(२) इसी आधार पर दुर्खीम ने धार्मिक क्षेत्र में भी कुछ उद्धरण दिये हैं। उनके मत में जैसा कि कहा जा चुका है, सामूहिक अनियन्त्रण ही ऐसी आत्महत्या का कारक है। अस्तु इसी बात को ध्यान में रखते हुए उन्होंने देखा रोमन-कैथोलिकों (Roman Catholic) में जिनका कि धर्म सदस्यों को दृढ़तापूर्वक संगठित व एकीकृत रखता है आत्महत्या का प्रतिशत कम मिलता है अपेक्षाकृत प्रोटेस्टैन्ट (Protestant) के। यहूदियों में तो यह प्रतिशत सबसे कम मिलता है। ऐसा दुर्खीम ने स्पष्ट कहा है।[1]

यहां यह समझने की भूल न करनी चाहिये कि प्रोटेस्टैन्ट धर्म आत्म-हत्या के लिये प्रेरित करता है और यहूदी नहीं। अपितु समझना केवल इतना भर है कि एक में सम्बन्धों की संगठित व्यवस्था है और दूसरे में संबंधों की शिथिलता।

(३) उपर्युक्त विवेचन के साथ साथ युद्ध के समय आत्महत्या का प्रतिशत घटता है एवं युद्धोपरान्त बढ़ता है। कारण स्पष्ट है कि युद्ध के

---

1. "The aptitude of jews for suicide is always less than that of Protestants . besides, it must be rempered that jews live more exclusively that other Confessional groups in cities and are in intellectual occupations on this account they are more inclined to suicide than members of other Confessions for reasons other than their religious," *Durkheim.*

दुर्खीम महोदय ने आत्महत्या की कोई स्प
पुदकशी करने वाला एक अन्तर्राष्ट्रीय कार्य प
कारण आत्महत्या के प्रयोजनों (intention
कारकों (factors) की विभिन्नता एवं बहुलता
आत्महत्या की व्याख्या सामाजिक कारको के
जाना चाहिये कि वे सामाजिक तथ्य के मनोवै
को तैयार नहीं। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि "सा
मनोविज्ञान में नही अपितु समाज की प्रकृति
प्रकार उनके अनुसार आत्महत्या एक साम
जिसका विश्लेषण सामाजिक प्रक्रियाओ के

आत्महत्या की सामाजिक प्रकृ

अपने निरीक्षण एवं परीक्षण के आधार
महत्त्वपूर्ण तर्क है कि बहुधा लगातार न
बनी रहती है, स्थिर रही आती है।
कि सर्वथा परिवर्तनशील हैं, से इस नि
सभव है। अस्तु स्पष्टतः ही इसके नि
जो स्वयं भी स्थायी हो। और ऐसा
वैयक्तिक या मनोविज्ञान आदि नही

व्याख्या है कि यह दरिद्रता अथवा धनाभाव के कारण होती है। किन्तु सर्वज्ञात तथ्य है कि अनेको ही निर्धन जनवर्ग हैं जो आत्महत्या से परिचित तक नही। इसलिये इसके विरुद्ध दूसरा तर्क यह है कि आत्महत्या आकस्मिक विपिन्नता मे नही अपितु आकस्मिक सम्पन्नता मे भी बढ़ जाती है। दुर्खीम के मत मे इन दोनो के लिये कोई एक ही कारक होना चाहिये और वह है सतुलन का डगमगा जाना, अनुशासन का भग हो जाना तथा व्यवस्था का टूट जाना। अस्तु गरीबी आदि से आत्महत्या की व्याख्या उपयुक्त नही। जिस क्षण व्यक्ति असाधारण रूप से यकायक धनवान बन जाता है तो वह सतुलन खो बैठता है। उसकी इच्छाओ का पारावार नही रहता।[1] यही कारण है कि सन्तुलन भग होता है और व्यक्ति आत्महत्या की ओर प्रवृत्त होता है।

इस प्रकार सकारण आत्महत्या के तीन रूपो का विशद विवेचन करने मे दुर्खीम ने अपनी बातो को समाज के बाहर कही भी नही जाने दिया है। दूसरे शब्दो मे तीनो प्रकार की आत्म-हत्याओ का उत्पादक कारक उन्होंने सामाजिक ही पाया है। आत्मश्लाघी मे अत्यधिक सम्बन्धो की शिथिलता, परार्थी मे सामाजिक सम्बन्धो का अत्याधिक नियन्त्रण तथा असतुलित मे सामाजिक अनुशासन का भग हो जाना। अस्तु उन्होंने ठीक ही कहा है।[2]

उनके विचारानुसार आत्महत्या के सम्बन्ध मे वैयक्तिक कारक उतने ही निरर्थक एव महत्त्वहीन हैं जितने कि रोग के सम्बन्ध मे। बीमारी पर व्यक्ति का कोई अधिकार नही होता, उसके लिये वह दोषी नही होता, इसी-प्रकार

---

1. "The more one has, the more one wants, since satisfactions received only stimulate instead of filling needs."

—*Durkheim.*

2. "The curve of suicide may be accounted for only sociologically. It is the moral Constitution of a society which at any given moment fixes the number of suicides For every society there exists a collective force of a certain energy, which pushes individuals to kill themselves Each society according to its morphological structure and collective constitution has its own collective proclivity to the act of suicide, and it is this collective proclivity which determines individual proclivities to suicide, but not contrawise." —*Durkheim.*

समय व्यक्ति अपने अकेलेपन (individual shell) को छोड़ कर बाहर निकलते हैं, युद्ध में जाते हैं, सम्बन्धों में आते हैं, जब कि युद्ध समाप्त होने पर वे अपने अकेलेपन (individual shell) में आ जाते हैं, सम्बन्ध समाप्त हो जाते है। अस्तु आत्महत्या को वल मिलता है।

(२) परार्थी (Altruistic)—जैसा कि इसके अर्थ से ही स्पष्ट है कि दूसरे के लिये अपना जीवन देना। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि यह आत्मश्लाघी के विपरीत है। जहाँ आत्मश्लाघी में सामाजिक अनियन्त्रण का महत्त्व है वहाँ परार्थी मे सामाजिक नियन्त्रण के अधिकार का महत्त्व है। इसमे व्यक्ति समाज के प्रति इतना अधिक दव जाता है कि उसकी स्वयं की निगाह मे भी अपने जीवन का कोई महत्त्व नही रहता। यहाँ सम्बन्धों की व्यवस्था कुछ इतनी अधिक संगठित एव तीव्र होती है कि व्यक्ति थोड़ी सी बात पर अपनी जान की बाजी लगा देने में नही हिचकिचाता।

उदाहरण के लिये दुर्खीम कहते हैं कि सामान्यजनो की अपेक्षा सेना मे आत्महत्यायें अधिक पाई जाती है। कारण स्पष्ट है कि वहाँ सम्बन्ध इतने व्यवस्थित एवम् समूह का इतना अधिक नियन्त्रण रहता है कि व्यक्ति की अपनी वैयक्तिकता समाप्त प्रायः हो जाती है। ऐसी दशा में सैनिक में कुछ ऐसी बात पैदा हो जाती है कि वह अपने सम्मान पर तनिक भी आक्रमण होने पर अपना जीवन समाप्त कर लेता है। कुछ लोग इसका कारण सैनिक जीवन की कठोरता मानते हैं। परन्तु वास्तविकता यह नही। कहना न होगा कि कठोरता से डर प्रारम्भ मे अधिक लगता है बाद मे तो व्यक्ति उसका अभ्यस्त हो जाता है। जबकि सेना मे बहुधा सेवा काल के बढने के साथ ही आत्महत्या की दर मे वृद्धि देखी गई है। अस्तु स्पष्टतः ही अत्यधिक नियन्त्रण को ही श्रेय दिया जाता है। वास्तव मे ऐसे दृढ़तावादी समूहो में कुछ व्यक्तित्व का विकास ही इस प्रकार होता है कि व्यक्ति ऐसे अवसर आते ही अपनी जान देने मे डरते नही। सती-प्रथा इसका एक स्मरणीय उदाहरण है।

(३) अव्यवस्थित (Anomique)—यहाँ जैसा कि अव्यवस्थित शब्द से ही स्पष्ट है, जब आकस्मिक दशाये प्रस्तुत हो जाती हैं तो आत्म-हत्या की दर बढ़ती है। अस्तु यह सामाजिक सतुलन (social equallibrium) एव समाज नैतिक सविधान (moral constitution) मे यकायक हलचल होने पर होता है। आर्थिक संकटो एव दिवालियेपन होने के तुरन्त बाद होने वाली आत्महत्याऐं इसका अच्छा उदाहरण है। ऐसी आत्महत्याओं के लिये सामान्य

व्याख्या है कि यह दरिद्रता अथवा धनाभाव के कारण होती है। किन्तु सर्वज्ञात तथ्य है कि अनेकों ही निर्धन जनवर्ग है जो आत्महत्या से परिचित तक नही। इसलिये इसके विरुद्ध दूसरा तर्क यह है कि आत्महत्या आकस्मिक विपन्नता मे नही अपितु आकस्मिक सम्पन्नता मे भी बढ़ जाती है। दुर्खीम के मत मे इन दोनों के लिये कोई एक ही कारक होना चाहिये और वह है सन्तुलन का डगमगा जाना, अनुशासन का भग हो जाना तथा व्यवस्था का टूट जाना। अस्तु गरीबी आदि से आत्महत्या की व्याख्या उपयुक्त नही। जिस क्षण व्यक्ति असाधारण रूप मे यकायक धनवान बन जाता है तो वह सतुलन खो बैठता है। उसकी इच्छाओं का पारावार नही रहता।[1] यही कारण है कि सन्तुलन भग होता है और व्यक्ति आत्महत्या की ओर प्रवृत्त होता है।

इस प्रकार सकारण आत्महत्या के तीन रूपों का विशद विवेचन करने मे दुर्खीम ने अपनी बातों को समाज के बाहर कही भी नही जाने दिया है। दूसरे शब्दों मे तीनों प्रकार की आत्म-हत्याओं का उत्पादक कारक उन्होंने सामाजिक ही पाया है। आत्मश्लाघी मे अत्यधिक सम्बन्धों की शिथिलता परार्थी मे सामाजिक सम्बन्धों का अत्याधिक नियन्त्रण तथा असन्तुलित मे सामाजिक अनुशासन का भग हो जाना। अस्तु उन्होंने ठीक ही कहा है।[2]

उनके विचारानुसार आत्महत्या के सम्बन्ध मे वैयक्तिक कारक उतने ही निरर्थक एव महत्वहीन हैं जितने कि रोग के सम्बन्ध मे। बीमारी पर व्यक्ति का कोई अधिकार नही होता, उसके लिये वह दोषी नही होता, इसी-प्रकार

---

1. "The more one has, the more one wants, since satisfactions received only stimulate instead of filling needs."

—*Durkheim*

2. "The curve of suicide may be accounted for only sociologically. It is the moral Constitution of a society which at any given moment fixes the number of suicides. For every society there exists a collective force of a certain energy, which pushes individuals to kill themselves . Each society according to its morphological structure and collective constitution has its own collective proclivity to the act of suicide, and it is this collective proclivity which determines individual proclivities to suicide, but not contrawise."

—*Durkheim*

आत्महत्या भी सामाजिक कारक का परिणाम है न कि वैयक्तिक का। वे कहते हैं कि सामाजिक व्यवस्था में विभिन्न मात्रा के अनुसार आत्महत्या की धाराएँ (suicidal waves) उत्पन्न होती है जो अनेकों व्यक्तियों को आत्महत्या के लिये यांत्रिक रूप से विवश करती चली जाती हैं। यही दुर्खीम का आत्महत्या के विषय मे तार्किक एवं प्रायोगिक अध्ययन एवं विचार (धारा) है।

आलोचना—कहना न होगा कि दुर्खीम ने पहली बार इतनी जोरदारी के साथ सामाजिक कारको का आत्महत्या के सम्बन्ध मे महत्त्व दिखलाया है। अब जहाँ तक इन सामाजिक कारको के आत्महत्या सम्बन्धी कारको मे से एक कारक होने का प्रश्न है हमें मान्य है। किन्तु जहाँ दुर्खीम कहते हैं कि सामाजिक कारक ही आत्महत्या के एकमात्र कारक हैं, मान्य नही। सोरोकिन (Sorokin) महोदय ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है।[1]

आत्महत्या के सह संचारी कारक—आगे बढ़ने से पूर्व यह बतलाना आवश्यक है कि हर देश की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। परिणामस्वरूप आत्महत्या की दर एव उसके सहसचारी कारक भी पृथक्-पृथक् प्रकृति के ही (एक हद तक) होते हैं। अस्तु हम यहाँ विशेष रूप से भारतीय तथ्यों को अधिक महत्त्व देंगे।

साथ ही यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि अधोलिखित कारकों मे से कोई एक ही कारक पूर्णरूपेण (exclusively) उत्तरदायी नहीं होता। इसके साथ ही साथ सवेगात्मक तनाव की उपस्थिति अनिवार्य है। अस्तु कई कारकों के सहयोग से ही आत्महत्या की उपयुक्त व्याख्या सम्भव है। यहीं पर उन पत्रों के सम्बन्ध मे भी कुछ चर्चा करना आवश्यक है जिन्हें आत्महत्या करने वाले व्यक्ति छोड़ जाते हैं। इन पत्रों मे केवल कुछ को छोड़कर शेषों को आत्महत्या का सही व्याख्याता नही माना जा सकता। कारण स्पष्ट ही है, कि उनमें समस्या की गहराई का प्रकाश न होकर केवल तात्कालिक एवं ऊपरी कारण का ही प्रकाशन भर होता है। उदाहरण के लिये किसी पत्नी ने इसलिये आत्महत्या कर ली कि उसका अपने पति अथवा सास से झगड़ा हो

1. "If his study has made evident the role of the social factors is the movement of Suicide, it did not succeed in showing that all other factors do not have any influence." —Sorokin

गया। इस उनके पत्र से प्रकट हुआ, किन्तु यहाँ यदि समस्या के अन्तर में प्रवेश करने का प्रयत्न किया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि इसके लिये उत्तर-दायी हो सकती है उनकी पातक (guilt) की भावना, हीनता की भावना (inferiority complex) आदि। अब समस्त कारकों को हम अधोलिखित रूप में संगठित कर सकते है।

१. शारीरिक सह-सचारी (Physical corroboratory)

इनमें हम अधोलिखित को ले सकते है—

(अ) लिंग और आत्महत्या—इस सम्बन्ध में जैसा कि हम प्रारम्भ में ही संकेत दे चुके हैं कि हर देश की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि बहुत हद तक प्रभावशाली है। परिणामस्वरूप यदि पश्चिमी योरप एव अमेरिका में पुरुषों की आत्महत्या की दर स्त्रियों से तिगुनी है तो भारत में सम्भवत स्त्रियों में आत्महत्या का प्रचलन पुरुषों की अपेक्षा अधिक है। इस सम्बन्ध में मेरे एक साथी के विचार उद्धरणीय है—[1] 'मेरे विचार में शायद इसका कारण हमारे समाज के रीतिरिवाज, प्रथायें एवम् परम्पराएँ हैं जिनके कारण भारतीय नारी का जीवन पूर्णतया अधीनता में बीतता है। अपनी इच्छा, अपनी भावनाओं का उसके जीवन में कोई महत्व नहीं है। इसके अतिरिक्त ससुराल का जीवन तो प्राय एक अभिशाप सा हो जाता है। पति के सम्बन्धी पत्नि को घर का सदस्य न समझ कर घर की दासी समझ कर स्वागत करते है। ये यातनाएँ वह मूक बधिर की भाँति सहन करती है। पर जब सहनशीलता चरम सीमा पर पहुँच जाती है तो आत्महत्या के अतिरिक्त और कोई उपाय दृष्टिगोचर नहीं होता। "आजकल तो पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव एव परिवर्तमान दशाओं के कारण तथा नारी की शिक्षा के कारण प्राचीन और नवीन का सामञ्जस्य एक समस्या बन गया है और आत्महत्या के लिये बढ़ावा देने में सहायक हो रहा है।

यही पर यह भी बतलाना आवश्यक है कि पश्चिमी पर्यवेक्षण के अनुसार पुरुषों में सफल आत्महत्याओं की दर अधिक है परन्तु असफल की दर पुरुष एव नारी दोनों में ही समान है।

(ब) आयु और आत्महत्या—कुछ विद्वानों ने आयु का भी आत्महत्या के साथ सम्बन्ध प्रदर्शित करने का प्रयास किया है। यहाँ कहना न होगा कि

---

१. पर्यवेक्षण रिपोर्ट—"आत्महत्या"—अन्वेषक—मिसेज संतोष, बी० साहिल।

बचपन में आत्महत्या की दर लगभग शून्य प्रायः ही रहती है। हाँ एन्साईक्लोपीडिया (Encyclopedia) के अनुसार आत्महत्या की सम्भावना १५ वर्ष की आयु से शुरू होकर आयु के साथ-साथ बढ़ती ही जाती है। किन्तु मेरे मित्र के पर्यवेक्षण के अनुसार १५ से २५ वर्ष के आयु वालों में अधिक होती है। फिर अवस्था की बढ़ोतरी के साथ-साथ आत्महत्या की संख्या में कमी आ जाती है। इसका कारण स्पष्ट ही है। प्रथम अवस्था की अपरिपक्वता, अनुभव की कमी तथा भावुकता के कारण व्यक्ति शीघ्र ही सांसारिक कठिनाइयों से परेशान हो आत्महत्या की शरण में जा सकता है। अवस्था की वृद्धि के साथ व्यक्ति में सहनशीलता की मात्रा बढ़ती है और वह सांसारिक मुश्किलों से इतनी जल्दी परेशान नहीं हो पाता। दूसरा बहुधा गृहस्थी के उत्तरदायित्व का अभाव भी इसका एक कारण माना जा सकता है।

(स) शारीरिक रोग और आत्महत्या (Physical disease and Suicide)—इस सम्बन्ध में यह बतलाना आवश्यक है कि यों तो बुरे स्वास्थ्य के कारण भी आत्महत्या की घटनाएँ पाई जाती हैं। किन्तु विशेषकर उन व्यक्तियों में आत्महत्याओं का प्रतिशत अधिक होता है जो असाध्य रोगों से पीड़ित होते हैं। उदाहरण के लिये यदि कोई व्यक्ति यक्ष्मा, सिफलिस, गठिया, तोरिक एवं केंसर तथा असाध्य नामर्दी (impotency) आदि से पीड़ित है तो वह अनायास ही इस पथ की ओर अग्रसर हो जाता है। कारण उसमें निराशा का निरन्तर संचार तथा शर्मिन्दगी की भावना होती है, वह अपनी जिन्दगी से ऊब जाता है, दुःख से परेशान हो जाता है और इससे छुटकारा पाने का उसके सामने बस यही एक उपाय रह जाता है।

(द) शारीरिक दोष और आत्महत्या (Physical diformities and Suicide)—अन्धापन, बहरापन आदि हीनता की भावना व संवेगात्मक संघर्ष (emotional conflict) आत्महत्या को प्रेरित करता है।

२. मानसिक सहसंचारी (Mental Corroboratory)

(अ) इस विषय में सामान्य रूप से महत्वपूर्ण कारक है भय, चिंता, निराशा, भावुकता, घृणा, हिंसा, प्रतिशोध, हीनता की भावना (inferiority complex), पाप की भावना (guilt complex) तथा भावनात्मक उत्तेजना (emotional excitement) आदि।

(क) स्वभाव—गम्भीर प्रकृति एवं अन्तर्मुखी (introvert) प्रकार के व्यक्तियों में आत्महत्या अधिक मिलती है अपेक्षाकृत बाह्यमुखी (extrovert) प्रकार के व्यक्तियों के। कारण स्पष्ट है कि अन्तर्मुखी व्यक्तित्व वाला व्यक्ति भावी, अपने आप में सीमित एवं शीघ्र उत्तेजित होने वाला होता है और गम्भीरता की गम्भीरता के आवरण में अपने दुखदर्द को समेटे हुए आत्महत्या की ओर अग्रसर होता है।

(ख) कुशाग्र बुद्धि—बौद्धिक समूहों (intellectual groups) में आत्महत्या की दर अधिक मिलती है। उदाहरण के लिए योरप में प्रथम महायुद्ध के पूर्व वैज्ञानिकों, साहित्यकों एवं अन्य विद्वानों में आत्महत्या की संख्या जन साधारण से अधिक थी। कारण ऐसे व्यक्तियों के समक्ष जीवन की जटिलता तथा उनका अत्याधिक चिन्तन (over thinking) है।

(ग) चरित्र—सच्चरित्र पुरुषों में भी आत्महत्या अधिक देखने को मिलती है। मर मित्र के पर्यवेक्षण के अनुसार आगरा में ऐसे आत्महत्या करने वालों की संख्या ६६ प्रतिशत है। इसका कारण किसी मिथ्या कलंक से छुटकारा पाने की विवशता होती है।

(घ) मानसिक बीमारी (mental disease)—जिस प्रकार व्यक्ति लम्बी शारीरिक बीमारी के कारण आत्महत्या की ओर उन्मुख होता है उसी प्रकार कुछ विशेष मानसिक विकारों के पंजे में फँसकर भी व्यक्ति आत्महत्या कर बैठता है। इन मानसिक बीमारियों में कुछ महत्त्वपूर्ण हैं दुर्बलता (Imbecility), अपस्मारी, विक्षोभ (Melancholia) तीव्र मानसिक असंतुलन (Acute Paranoia) आदि।

३. भौगोलिक कारक (Geographical factors)

भौगोलिक कारक भी आत्महत्या को बढ़ावा देते है। उनमे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है मौसम।

मौसम और आत्महत्या (Weather and Suicide)

भौगोलिक कारकों के अनुसार यूरोपीय देशों में गर्मी के महीनों में विशेषकर मार्च से अगस्त तक अपेक्षाकृत अधिक आत्महत्याएँ देखी जाती हैं। दुर्खीम के अनुसार कारण यह है कि गर्मियों में दिन बड़े होते है और सम्बन्धों की अधिकता को अवसर देते हैं। किन्तु इन सम्बन्धों के अभाव में एकाकीपन का अनुभव कर व्यक्ति उधर प्रवृत्त होता है। साथ ही ये अप्रत्य

कारक हो सकते हैं, प्रत्यक्ष कारण नही। ग्रीन महोदय ने भी ऐसा ही कहा है।[1]

४. आर्थिक सहसंचारी (Economic Corroboratory)

कहने की आवश्यकता नही कि आर्थिक कारक अपनी विपन्नता और सम्पन्नता दोनो ही प्रकार से परम महत्त्वपूर्ण कारक है। मेरे मित्र के अनुसार आगरा मे ६६·६ प्रतिशत व्यक्तियो की आत्महत्या का कारण प्रत्यक्ष रूप से धन ही था। धन की अधिकता या उसकी (धन) अपर्याप्तता ही। कहने का तात्पर्य है कि धन के साथ संवेगात्मक सघर्ष भी वाछनीय है। अब धन के प्रभावो को इस सम्बन्ध मे अधोलिखित रूपों में देखा जा सकता है—

(अ) व्यापार और आत्महत्या (Business and Suicide)—उत्थान और पतन प्रकृति का अटल नियम है। यह हर क्षेत्र मे परिलक्षित होता है। अस्तु व्यापार मे भी उतार और चढाव आते रहते है। किन्तु कभी-कभी जब व्यापारिक अपकर्ष (business depression) चरम सीमा पर आ जाते हैं तो आत्महत्याओ मे भी वृद्धि देखी जाती है। १९३२ मे जब आर्थिक हीनता अत्यधित बढ गई थी तो लगभग समस्त देशो मे आत्महत्या की दर भी बढ़ गई थी—

यही पर इलियट और मेरिल के इस सम्बन्ध मे विचार दर्शनीय हैं। उन्होंने आत्महत्या की आर्थिक प्रकृति को अधोलिखित तीन रूपो मे देखा है—

(i) पद की हानि (Loss of Status)—इसको नौकरपेशा एव व्यापार दोनो मे ही देखा जाता है। नौकरपेशा के सम्बन्ध मे बहुधा जब कोई बैंक के गवर्नर, खजाची, आदि आवश्यकता अथवा लालच मे अंधे होकर गबन कर बैठते हैं तब (आत्मघात) देखने को मिलता है। फिर वे व्यक्ति समाज के सम्मुख जीवित रूप मे दण्डित होने की शर्मनाक परिस्थिति से बचने के कारण आत्महत्या कर बैठते हैं। उस परिस्थिति मे भी देखने को मिलती है जब कोई अच्छे पद पर प्रतिष्ठित व्यक्ति अपने किसी कुकृत्यवश दण्डित होने का अधिकारी होता है। ऐसी दशा मे वह समाज को अपना मुँह दिखाना उचित नही समझता। परिणाम क्या होता है, बताने की आवश्यकता नही।

---

1. "Clearly changes in the seasons can not directly cause suicide." —*Green.*

फिर इसे व्यापारिक क्षेत्र में इस प्रकार देखा जा सकता है कि एक करोड़पति अथवा अच्छा व्यापारी परिस्थितियोंवश दिवालिया हो जाने पर अथवा किसी लज्जाजनक कृत्य कर आत्महत्या कर सकता है। इस प्रकार पद की हानि दोनों ही क्षेत्रों में समान रूप से महत्वपूर्ण है।

(ii) आराम की हानि (Loss of Comfort)—इसका सम्बन्ध उपर्युक्त स्थिति से है। जब व्यक्ति अपने किसी कृत्य अथवा परिस्थितिवश अपना पद खो देता है, अपनी प्रतिष्ठा गँवा देता है तो उसको बीते हुए आराम की सुध बेचैन करती है। जितना-जितना वह अपने अतीत के आमोदों पर चिन्तन करता है उसकी आत्महत्या की कामना तीव्रतम होती जाती है। अस्तु ऐसी दशा में अपने उन शारीरिक एवं लौकिक भोगों को खरीदने की उसकी असमर्थता व्यक्ति को इस ओर और भी अधिक आकृष्ट करती है।

(iii) सुरक्षा की हानि (Loss of Security)—यह वह स्थिति होती है जबकि व्यक्ति को अपने जीवन की भी सुरक्षा की आशा नहीं रहती। साथ ही सामाजिक सुरक्षा का भी कोई आसरा नहीं होता। आज तो खाने को कैसे भी कुछ रूखा-सूखा मिल गया, लेकिन कल मिल सकेगा कौन जाने। ऐसी करुण दशा निपुण एवं अनिपुण कारीगरों तथा मजदूरों के समक्ष बहुधा पहरा लगाती है। परिणामस्वरूप उनके समक्ष दो ही रास्ते बचते हैं—या तो वे ऐसी हालत से ऊब तत्काल ही अपने जीवन का अन्त कर लेते हैं या उन्हें दरिद्रता के जिन्द के पंजों में पड़ बिलख-बिलख कर मरना पड़ता है। अस्तु पहला पथ अपेक्षाकृत सरल होने के कारण बहुधा स्वीकार कर लिया जाता है।

(ब) व्यवसाय और आत्महत्या (Occupation and Suicide)—यहाँ कहना न होगा व्यवसायों के कई प्रकार होते हैं। किन्तु विस्तृत रूप में दो प्रकार के देखे जा सकते हैं—(१) स्थिर (२) गतिशील। अब अनेक विद्वानों के विचारों के अनुसार गतिशील व्यवसायों में आत्महत्या के अवसरों की सम्भावना अपेक्षाकृत अधिक होती है। फैरिस महोदय के अनुसार इङ्गलैण्ड में होटल चलाने वालों एवं सरायवालों में आत्महत्या का प्रतिशत सर्वाधिक मिलता था। कारण यह कहा जा सकता है कि ऐसे व्यक्तियों के सम्बन्ध बहुधा वैयक्तिक, क्षण स्थायी एवं शिथिल होते हैं। अस्तु सम्बन्धों का जाल जो जीवन को जकड़ने के लिये आवश्यक है, के अभाव के कारण उनमें आत्महत्या की दर ऊँची होना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं।

यो तो जैसा कि दुर्खीम महोदय के विचारो मे हम पहले ही सकेत आये हैं कि सेना में आत्महत्या की दर साधारण जनो की अपेक्षा अधि मिलती है। किन्तु लुन्डन (Lunden) महोदय ने भी इसका समर्थन कि है। उनके मत मे सैनिको व अफसरों मे आत्महत्या का पर्याप्त प्रतिशत मिलत है। इसके कारण ये है—प्रथम तो उन लोगो मे स्वाभिमान अथवा आत्म सम्मान का पुट अति अधिक होता है। अस्तु उसमे तनिक भी धक्का लग पर वे शीघ्र आत्महत्या करने पर उतारू हो जाते हैं। द्वितीय शान्ति के सम मे ये लोग जीवन मे नीरसता एवं शुष्कता का अनुभव करते हैं और कभी-कभ लम्बी अवधि तक चलने पर यह एकरसता कुछ अन्य कारकों के साथ मिल उन्हे आत्महत्या को विवश कर देती है। अन्तिम रूप में उनके पास बन्दूक आदि हथियारो के साथ रहने के कारण साधन खोजने में कोई कठिनाई नहीं आती जो कभी-कभी देर होने पर आत्महत्या के विचार को मार भी देती है। इसके विपरीत इन्हे ये सुविधा आत्महत्या के लिये और भी अधिक उतावला बना देती है।

(स) बेरोजगारी और आत्महत्या (Unemployment & Suicide)—कहना न होगा कि रोज़गार की समस्या एक ऐसा प्रश्न है जो आज का भी है और हमेशा-हमेशा का। मनुष्य जो कुछ करता है पेट के लिये करता है। समाजशास्त्रीय भाषा मे अपने चालकों (drivers) की पूर्ति के लिये करता है। अस्तु रोजगार का उद्देश्य भी विशेषरूप से यही है। इस प्रकार व्यक्ति जिस समय अपने इस उद्देश्य मे असफल होता है तो उसके लिये एक ही रास्ता बच रहता है और वह है आत्महत्या।

ध्यान रखना चाहिये कि यह समस्या भारत मे तो दिन पर दिन अति भयकर रूप धारण करती जा रही है। हाल मे भारतीय सरकार द्वारा प्रकाशित आकड़ो के अनुसार भारत में १४ करोड़ से अधिक व्यक्ति ऐसे हैं जिन्होंने रोजगार के दफ्तर में नाम दर्ज कराये हैं। फिर इनसे भी अधिक ऐसे हैं जिन्होंने नाम दर्ज नही करवाये है। कहने का आशय यह है कि समस्या परम विकट एव विकराल बन रही है और शीघ्रतम हल की बाट जोह रही है।

जैसा कि कहा ही जाता है, खाली दिमाग शैतान का घर (empty mind is a devil's workshop) सही ही है। साथ ही बेकारी की ... मे व्यक्ति के अपने सगे भी उसके दुश्मन बन जाते हैं। उस पर भी

यता तो और भी अधिक अभिशाप बन जाती है।[1] नतीजा यह
यक्ति के कानो मे कण-कण पुकार कर कहता है कि "कुछ करो या
क्योंकि करने के लिये तो कुछ मिलता नही फिर हर प्रयत्न कर
मरने की शरण मे आकर शान्ति पाता है। यह बात जितनी उच्च
व्यक्ति के लिये सही है उतनी ही एक अनिपुण (unskilled)
लिये भी।

वारिक सह-संचारी (Familial Corroboratory)

ही स्मरण रखना चाहिये कि विवाह ही परिवार का सोपान है।
आशय यह है कि पहले विवाह होगा तब ही परिवार आयेगा। इस
विवाह और आत्महत्या के सम्बन्ध पर पहले विवेचन करते हैं—

(अ) रोमान्स और आत्महत्या (Romance & Suicide)—
रत प्राचीन और नवीन के संघर्ष की अवस्था मे चल रहा है।
वाह के क्षेत्र मे भी एक ओर तो प्राचीन व्यवस्था—माता पिता को
र जीवन साथी चुनने का अधिकार—दूसरी ओर नवीन—संतान को
पना जीवन साथी चुनने की स्वतन्त्रता का द्वन्द्व चल रहा है। इसमें
होना भी स्वाभाविक है। परिणामस्वरूप पुत्र ने अपना जीवन साथी चुन
किन्तु मातापिता इसमें बाधक हो रहे है और फिर संतान को आत्महत्या
ण लेनी पड़ती है।"

फिर ये रोमान्स पर आधारित विवाह एक और प्रकार से भी
हत्या को प्रेरित करते है। रोमान्स जो कि क्षणिक होता है, अस्थायी होता
वाह होने की कुछ अवधि के उपरान्त साथ छोड जाता है। परिणामस्वरूप
उन जीवन साथियो को जो विवाह पूर्व रोमान्स की स्थिति मे एक दूसरे के
दीवाने थे जीवन की वास्तविकताओं से झगड़ना पड़ता है जो दोनों के बीच
ा तनाव की स्थिति पैदा कर देती है। यह तनाव कभी कभी तलाक की
भी बढ़ जाता।[2] फलस्वरूप तलाक प्राप्त व्यक्ति स्नेह विवशता, जीवन मे

---

1. "No enjoyment without employment; No pleasure leisure."

2. "Romantic marriage leads to romantic divorce."
Elliot & Merril.

शून्यता तथा नैराश्य एवं संवेगात्मक तनावों में फँस आत्महत्या की शरण लेता है।

(ब) विवाह और आत्महत्या (Marriage & Suicide)—यद्यपि दुर्खीम, केवन और डब्लिन के मत मे विवाहितों की अपेक्षा अविवाहितो मे आत्महत्या का प्रतिशत अधिक मिलता है किन्तु मेरे मित्र के पर्यवेक्षण का निष्कर्ष इसके विपरीत है। उनके विचार मे विवाहित व्यक्तियों मे आत्महत्या का प्रतिशत अधिक मिलता है। उसमे भी वर्गीकृत होने पर पता चलता है कि स्त्रियो की सख्या ८७.४ प्रतिशत है। कारण बहुधा दुखपूर्ण वैवाहिक जीवन होता है। यहाँ माता-पिता के द्वारा विवाह तय किया जाना एक बड़ी हद तक इसके लिये उत्तरदायी है।

(स) दहेज प्रथा और आत्महत्या (Dowry System and Suicide)—कहना न होगा कि दहेज की समस्या भारतीय सामाजिक व्यवस्था मे एक भारी कलक है। भारतीय परिस्थितियो के प्रकाश मे दहेज की प्रथा एक बडी हद तक आत्महत्या का कारण बन रही है। यह कई रूपों मे देखी जा सकती है। प्रथम पिता जब विवाह के बाजार से रुपया लेकर लड़का खरीद पाने मे असमर्थ एव असफल सिद्ध होता है तो वह आत्महत्या की गोद में ही जाकर शान्ति प्राप्त करता है। कभी-कभी पुत्री अपने पिता की परेशानियो को दूर करने के उद्देश्य से स्वयं आत्महत्या कर लेती है। दूसरे—जबकि व्यक्ति अधिक रुपया नहीं दे सकता है तब और जब अधिक रुपया दे देते हैं तब भी दोनों ही दशाओं मे बहुधा बेमेल विवाह होते हैं। इस प्रकार पति पत्नी के विचारो के न मिलने के कारण वैवाहिक जीवन दुःखमय बन जाता है तथा अनेक जटिलताएँ (complications) पैदा हो जाती हैं जो आत्महत्या की ओर व्यक्ति को बढ़ाती हैं। अस्तु यहाँ (Nathaniel) नैथेनियल का कथन उदाहरणीय है—"Sufficient unto the culture is the crime there of." तृतीय तलवार के घाव से भी गहरा घाव वाणी का घाव होता है। बात की मार बुरी होती है। अस्तु ससुराल की दहेज विषयक यातना मृत्यु को बाध्य करती है!

(द) सयुक्त परिवार और आत्महत्या (Joint family & Suicide)—भारत मे विस्तृत रूप मे दो प्रकार के परिवार पाये जाते हैं—(१) सयुक्त—(२) वैयक्तिक। पर्यवेक्षण के अनुसार संयुक्त परिवारों में आत्महत्या की दर अपेक्षाकृत अधिक पाई जाती है। वहाँ भी विशेषकर स्त्रियां

मे। कारण स्पष्ट है कि नये प्रकाश से पारिवारिक ढांचे मे भी उथल पुथल मच रही है। परिणामस्वरूप व्यक्ति संयुक्त परिवार के संघर्षमय जीवन से छुटकारा पाने के लिये इधर मुड़ता है। अब वहाँ क्योंकि पुरुष का कार्यक्षेत्र तो बहुधा घर के बाहर रहता है इसलिये अत्याचार से ऊबी स्त्रियाँ इस ओर अधिक आकृष्ट होती हैं।

(घ) मातृत्वहीनता और आत्महत्या (Maternity & Suicide)—यह भी आत्महत्या के लिये काफी अंशों तक उत्तरदायी है। जिस स्त्री के बच्चे नही होते उसे कदम-कदम पर समाज की मान्यताएँ अपमानित करती है। आखिर स्त्री सुनते-सुनते इतनी अधिक परेशान हो जाती है कि उसे इधर आ ही जाना पडता है। यदि वैधयिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो अपने बांझपन के लिये स्त्री केवल उतनी ही उत्तरदायी है जितना हर व्यक्ति अपने जन्म के लिये।

पारिवारिक विघटन (Family disorganisation)

जब परिवार मे हर क्षण तनावपूर्ण सम्बन्ध बने रहते हैं—कदम-कदम पर क्लेशों का बुलावा होता है तो व्यक्ति ऐसी जिन्दगी से ऊब आत्महत्या की ओर कदम उठाता है। फिर तलाक एवम् परित्याग की स्थिति मे तो सभावना और भी अधिक बढ़ जाती है।

(ख) दुर्व्यवहार और आत्महत्या (Maltreatment & Suicide)—कहने की आवश्यकता नही कि आज नवीन और प्राचीन के विरोध के सम्बन्ध मे वृद्धा स्त्री (old woman) की समस्या एक जलती हुई समस्या है। बहुधा ये वृद्धाएँ और कभी-कभी ससुर भी अपनी पुत्र वधुओं के साथ इतना क्रूर एव कठोर व्यवहार करते है कि वधू बेचारी के लिये ऐसे जीने की अपेक्षा मरना ही अच्छा लगता है।

(ब) विधवा विवाह निषेध और आत्महत्या (Prohibition of widow remarriage & Suicide)—प्रारम्भ से ही पुरुष ने अपनी महत्ता को पहिचान नारी के स्वत्व को दबाने का प्रयास किया है। अत उसने अपने लिये तो सुख सुविधा को मान्यता दी है, हर आमोद का आयोजन किया है, किन्तु नारी के लिये बिल्कुल इसका उलटा। पुरुष को तो एक पत्नी मरने पर दूसरी, दूसरी पर तीसरी, तीसरी पर चौथी और इस प्रकार से अनेक विवाह करने का अधिकार है। केवल यहाँ तक ही नही—पत्नी के जीवित रहते हुए भी उसे अनेक विवाह करने का अधिकार है किन्तु नारी

का एक तो पहला विवाह भी असीमित भेंट (दहेज) के बाद। फिर कहीं दुर्भाग्यवश वह विधवा हो गई तो उसका दूसरा विवाह तो समाज को किसी कीमत पर मान्य नही। नारी का सिन्दूर यदि एक बार छूट गया तो हमेशा-हमेशा के लिये छूट गया—और पुरुष की लालसा जब एक बार जग गई तो कितनी ही पत्नियाँ मरें कितने ही जीवन खराब हो हमेशा-हमेशा के लिये जग गई। कैसी विडम्बना है। सिर्फ इसलिये कि नारी मे समर्पण की भावना है, सरलता का संचार है और है स्नेह की कामना। खैर हमारा इस समय यह विषय नही।

हाँ, तो क्योंकि हिन्दू समाज को विधवा होने के बाद नारी का दूसरा विवाह तो स्वीकार नही, यदि ऐसी दशा में पुरुष की कामुक लालसा के वशीभूत हो विधवा गलती से कोई अनैतिक कदम उठा जाती है जिसकी सभावना ५०% से भी अधिक है तो उसके समक्ष केवल-मात्र उपाय एक ही रह जाता है। वह अपनी लज्जा पर आने वाले उस लाञ्छन एवं बेरहम हिन्दू समाज के भय से अनायास ही मृत्यु को आने के लिये विवश कर देती है।

६. धार्मिक सहसंचारी (Religious Corroboratory)

पाप पुण्य की धारणा ही धर्म को धारण करती है। कहने का उद्देश्य यह है कि कुछ धर्म ऐसे रहे हैं जिन्होने आत्महत्या को एक जघन्य पाप बतलाया है, साथ ही कुछ धर्म ऐसे भी हैं जो इस विषय मे तटस्थ रहे हैं, खामोश हैं। इस्लाम के पवित्र एव मान्य ग्रथ कुरान के अनुसार (आत्महत्या) दूसरे की हत्या (murder) से भी बडा अपराध है। इसी प्रकार यहूदी धर्म का कानून (Talmuel) आत्महत्या को अच्छी दृष्टि से नहीं देखता और ऐसे व्यक्ति के प्रति तिरस्कारपूर्ण दृष्टि अपनाता है। अस्तु परम्परानुसार ऐसे व्यक्तियों के शरीरों को अपराधियों और पापियों के साथ-साथ दफनाया जाता है। परिणामस्वरूप इस्लामों मे आत्महत्या कम एवं और यहूदियों में तो अज्ञात सी है।

आजकल लोगों का धर्म पर से विश्वास उठता सा चला आ रहा है और यही कारण है कि आत्महत्याओं का प्रतिशत भी ऊँचा उठता जा रहा है। शेष दुर्खीम के विश्लेषण मे इसका अधिक स्पष्टीकरण देख ही आये है।

७. *सामाजिक सहसंचारी (Social Corroboratory)*

इस प्रसग मे सामाजिक विघटन को बहुत अंशो तक आत्महत्या का कारण माना जा सकता है। सामाजिक विघटन सामाजिक असतुलन का

प्रतीक है। भारतीय समाज में आज विघटन की क्रिया सर्वांशत: गतिमान है। इसको निम्न रूप मे देखा जा सकता है—

(अ) सामाजिक सरंचना और आत्महत्या (Social structure and Suicide)—सर्वज्ञात है कि वाह्य प्रभाव के फलस्वरूप भारतीय सामाजिक सरचना परिवर्तनशील बन रही है। यहां ऑगबर्न (Ogburn) महोदय का सास्कृतिक विघटन (cultural lag theory) पूर्णरूपेण चरितार्थ हो रहा है। इसका तात्पर्य है कि भौतिक सस्कृति मे परिवर्तन की गति तीव्र होती है किन्तु सस्कृति के अभौतिक तत्व उनसे अपने कदम नही मिला पाते। आज भारतीय नारी को दो विरोधी स्थितियों से गुजरना पड रहा है। एक ओर तो उसमे पर्दा आदि की आशा की जाती है दूसरी ओर पतिदेव उसे अपनी प्रेमिका के रूप मे समाज के समक्ष लाना चाहते है। दूसरे शब्दों मे प्राचीन मान्यताओं एव नवीन मान्यताओ मे तीव्र सघर्ष चल रहा है। ऐसी दशा मे पत्नी नही जान पाती कि वह कौन सा पथ अपनाये और इस प्रकार अनेक जटिलताएँ पैदा हो जाती है जो आत्महत्या को प्रोत्साहन देती हैं।

(ब) सामाजिक गतिशीलता एव नागरीकरण (Social mobility & urbanization)—मैक्सवेबर आदि सभी विद्वानो के अनुसार यह एक मान्य तथ्य है कि भारत गांवो का देश रहा है। किन्तु अब जनसख्या के दबाव, औद्योगीकरण एव आवागमन आदि कारणो ने मिलकर स्थानान्तरण (migration) को गति दी है। *अनेको लोग गांवो से चल शहर मे आकर बसने लगे* हैं। यहां सम्बन्धो की कसौटी को ध्यान मे रखते हुए कहना होगा कि गांवो मे प्राथमिक समूह सम्बन्ध (primary group relations) मिलते है, वहां हर व्यक्ति हर व्यक्ति को जानता है। नजदीक सम्पर्क (face to face contact) तथा पडोस का विशेष महत्त्व है। इसके फलस्वरूप व्यक्ति के हर क्षण सम्बन्धो मे जकड़े रहने के कारण तथा जीवन की सरलता के कारण आत्महत्या की दर कम मिलती है। इसके विपरीत शहर मे द्वैतायिक समूह सम्बन्धो (secondary group relations) *का प्रभुत्व होता है, सस्कृति,* धर्म, जाति आदि मे विभिन्नता होती है। पडोस अनुपस्थित रहता है तथा स्नेह के पवित्र बन्धन टूट जाते है। स्वभावत: ही परिणाम यह होता है कि शहर के यन्त्रवत एव थोथे जीवन मे उब कर तथा विशेषकर उस दशा मे जब उसके

ऊपर आयी आपद में उसे कोई सहानुभूति दिखाने वाला भी नहीं मिलता, व्यक्ति सहज ही आत्मघात की ओर आकृष्ट होता है।

(स) युद्ध और आत्महत्या (War & Suicide)—जैसा कि अनेक विद्वानों का विचार है कि युद्ध की अवधि में आत्महत्या का प्रतिशत कम मिलता है। इसका कारण हम दुर्खीम के विश्लेषण में दे आये हैं। फिर पहले ही कहा ही जा चुका है कि युद्ध समाप्ति पर आत्महत्या का प्रतिशत ऊँचा उठता है। विशेषकर उन देशों में तो आत्महत्या की संख्या और भी अधिक बढ़ जाती है जो हार गया होता है। कारण उनके ऊपर विजयी देश के अत्याचार होते हैं जिनसे तंग आकर वे आत्महत्या का सहारा लेते हैं।

(द) समाजीकरण और आत्महत्या (Socialisation & Suicide)—व्यक्ति का पालन पोषण किस ढंग से हुआ है, वह अकेला ही बच्चा (only child) है, सबसे छोटा है, सबसे बड़ा है, उसके जीवन में कोई परम महत्त्वपूर्ण घटना तो नहीं घट गई आदि बातें इस सम्बन्ध में परम महत्त्वपूर्ण हैं। व्यक्ति के जीवन में कभी-कभी कुछ घटनाएं ऐसी घट जाती हैं जो उसके व्यक्तित्व को पूर्णतः परिवर्तित कर जाती हैं। साथ ही कुछ ऐसी भी दुर्घटनाएं उसके जीवन में स्थान ले सकती हैं जिनके कारण वह अपने जीवन में हर समय नैराश्य में पीड़ित रहे। Be Ring का विचार है कि जो बच्चे माँ का कम दूध पीते हैं उनमें हीनता की भावना घर कर जाती है। इस प्रकार ऐसी ही कुछ बातें एवं घटनाएँ बहुधा व्यक्ति को आत्महत्या के लिए मजबूर कर सकती हैं।

८. विविध सहकारी (Miscellencous corroborator)

इनमें हम अग्रलिखित कारकों को महत्त्वपूर्ण समझते हैं—

(क) स्थान परिवर्तन (Change location)—इस पर [illegible] (Adolf Freman) महोदय ने [illegible] किया है। [illegible] (cultural shock) [illegible] महत्त्वपूर्ण कारक है।

(ख) नशा (Alcohol)—[illegible]

एव अधिस्वग्न व्यक्ति अत्यधिक नशा कर जाते हैं तो ये आत्महत्या कर बैठते हैं।

(ग) परीक्षा और आत्महत्या (Examination & Suicide)—यह एक माना हुआ तथ्य है कि हमारे यहाँ की शिक्षा-पद्धति दोषपूर्ण है। इस पर भी मजाक इस बात का है कि हरएक विद्वान इस बात को जानते और मानते हुए भी कि यह दोषपूर्ण है, इसके सुधार के लिये कोई विकल्प (alternative) प्रस्तुत नहीं करते।

यहाँ अपने विषय के सम्बन्ध में हमें कहना है कि प्रतिवर्ष बोर्ड एव विद्यालयों के परीक्षाफलों के घोषित होते ही कुछ न कुछ आत्महत्याएँ अवश्य एव बहुधा कानों में आती हैं। अक्सर अनुत्तीर्ण विद्यार्थी अपनी अज्ञानता अनुभव की अपरिपक्वता तथा सामाजिक शर्म के पंजे में फँस अपना जीवन समाप्त कर डालते हैं। यहाँ एक विशेष बात ध्यान में रखनी चाहिये और वह है अन्य कारकों की पहले ही से उपस्थिति।

अन्त में एक बार फिर हम कहेंगे कि कोई भी एक कारक आत्महत्या की मीमांसा के लिये पर्याप्त नहीं। बहुधा एक से अत्यधिक कारक मिलकर ही आत्महत्या का रास्ता तैयार करते हैं।

निवारण के लिये सुझाव (Suggestions for prevention)

उपर्युक्त समस्त विवेचन को देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि समस्या कितनी भीषण है। आखिर इसके निवारण के लिये कुछ न कुछ उपाय तो होना ही चाहिये। हमारी समझ में अधोलिखित सुझाव एक बडी हद तक इसके समाधान में सहायक होंगे।

(१) धार्मिक संस्थाएँ—इस सम्बन्ध में बहुत बडा काम कर सकती हैं। वे अपनी धार्मिक शिक्षाओं मे आत्महत्या को एक परम घृणित एव अवाछनीय कार्य बता कर लोक और परलोक का डर दिखा कर तथा दुखी व्यक्तियों को नैतिक सहायता देकर आत्महत्या को रोकने में सफलता प्राप्त कर सकती हैं। अत शीघ्र ही धार्मिक संस्थाओं को इस सम्बन्ध मे ठोस कदम लेने की आवश्यकता है।

(२) सामाजिक संगठन—जिस प्रकार परिवार नियोजन के सम्बन्ध मे सरकार द्वारा कुछ केन्द्र विशेष खोले गये हैं उस ही प्रकार कुछ सामाजिक संगठन हों जो इस सम्बन्ध मे ऐसे व्यक्तियों को आत्महत्या का जो शिकार बनना

चाहते हैं, उचित, तथ्यपूर्ण एवं मुक्त परामर्श दे सकें। लन्दन में ऐसा ही एक संगठन है जो '(London-Antisuicide-Bareau)' के नाम से प्रसिद्ध है। यह इस सम्बन्ध मे एक महत्त्वपूर्ण काम करने वाला पहला सगठन है। इसकी स्थापना १९०६ मे मुक्ति सेना (Salvation army) के द्वारा हुई थी। यहाँ एक बात ध्यान मे रखने योग्य है और वह यह कि यह लन्दन वाला संगठन कोई आर्थिक सहायता नही देता जबकि भारत मे बहुत कुछ आत्महत्याओ की प्रकृति आर्थिक रही है इसलिये परामर्श के साथ ही कुछ आर्थिक सहायता की भी आवश्यकता है। विशेषकर बेरोजगारी के कारण होने वाली आत्महत्याओ के निराकरण मे तो यह और भी अधिक प्रभावशाली सिद्ध होगी। अमेरिका मे भी इस सम्बन्ध मे (Save-A-Life-League) बहुत मददगार सिद्ध हुआ है।

(३) विवाह संस्था मे सुधार—जैसा कि पहले ही बतलाया जा चुका है कि विवाहित व्यक्तियो मे आत्महत्या का प्रतिशत अधिक मिलता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय विवाह सस्था मे कुछ न कुछ विशेष दोष अवश्य है। अस्तु आवश्यकता इस बात की है कि यहाँ वर वधू के चुनाव का संतोषजनक तरीका होना चाहिये। यही पर वृद्धा स्त्री के भी उचित समाधान की आवश्यकता है जो भारत की अनेक स्त्रियो की आत्महत्या के लिये उत्तरदायी है।

(४) अनुचित रीतिरिवाजों में सुधार—जैसा कि पहले ही बतलाया जा चुका है कि हमारे यहाँ दहेज प्रथा, विधवा विवाह निषेध, दूषित शिक्षा प्रणाली आदि अनेक सामाजिक बुराइयाँ हैं जो भारत मे बहुत अंशो मे आत्महत्या के लिये उत्तरदायी हैं। अतः इन प्रथाओं का मुक्तियुक्त निवारण भी परमावश्यक है। केवल कानून के अनुसार ही नही बल्कि हमारे सामाजिक मूल्य एव मान्यताएँ ऐसी बनाई जाय जिससे कि ऐसी रीतियाँ जनता के उपहास की पात्र बन जायें।

५. परिवार व मनोरंजन की संस्थाओं में सुधार

मस्तिष्क की थकान एव शिथिलता एक बडी हद तक आत्महत्या के लिये उत्तरदायी है। साथ ही परिवार का तनावपूर्ण वातावरण भी इस सम्बन्ध मे कम महत्त्वपूर्ण नहीं। अस्तु, कुछ ऐसा सामाजिक वातावरण पैदा किया जाये जिसमे परिवार की कटुता का स्थान उसकी वास्तविकता—स्नेह—से ले। साथ ही स्वस्थ मनोरजन की सुविधाएँ भी व्यक्ति के निराशावादी दृष्टिकोण को जादुई ढग से दूर करने मे मेरे विचार मे परम महत्त्वपूर्ण सिद्ध होंगी।

६. आत्मानुशासनपूर्ण सामाजीकरण

जैसा कि संकेत दिया ही जा चुका है कि विक्षोभ (frustration), नैराश्य, तथा संवेगात्मक तनाव एवं हीनता की भावना आदि ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जिनके बीज सामाजीकरण में मिलते हैं। अस्तु, मनोविश्लेषकों (Psychologysts) का विचार है कि व्यक्तित्व का विकास कुछ इतना स्वस्थ तरीके एवं मनोवैज्ञानिक ढंग से हो कि व्यक्ति में हर परिस्थिति से अपना सामञ्जस्य करने की भावना (spirit) आ जाय। ऐसा होने पर आत्म-हत्या के लगभग सभी द्वार बन्द हो जाते हैं।

७. अविवाहित संस्थाओं का विकास

मेरे साथी के मन में ईसाइयों के कन्वेंट जैसे मठों के समान हिन्दू धर्म में भी कुछ ऐसे संगठनों की परमावश्यकता है जिसमें अविवाहित युवती भी सम्मान-पूर्ण जीवन व्यतीत कर सके !

अध्याय ८

भिखारी समस्या

(Beggar Problem)

भिखारी समस्या वैयक्तिक विघटन की, मानव के पतन की एवं सामाजिक अवनति की अन्तिम दशा है। अनेकों विद्वानों के मत में तो भिक्षा-वृत्ति को एक महान अपराध माना जाना चाहिये। इस बात से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि यह समस्या दिन पर दिन किसी भी समाज की दृष्टि में कितनी भयंकर, कितनी विकराल तथा कितनी अवाञ्छनीय सिद्ध हो रही है।

क्या है ?

इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व यह जानना होगा कि भिखारी कौन है? जब तक इस बात का निर्णय नहीं हो जाता तब तक इस समस्या का सही क्षेत्र नहीं जाना जा सकता। प्रश्न उठता है कि क्या भूदान याचना करने वाले सन्त विनोबा भिखारी हैं? क्या अनाथालय के लिये चन्दे की याचना करने वाले व्यवस्थापक भिखारी हैं? और भी क्या वास्तविक रूप में आध्यात्म साधना हेतु विचरण करते हुए और केवल अपने ही पोषणार्थ याचना करने वाले भिखारी हैं? फिर क्या शारीरिक दृष्टि से किसी भी प्रकार का कार्य करके अपना पेट भरने में असमर्थ व्यक्ति भिखारी है? इस प्रकार हम देखते हैं कि ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनका प्रारम्भ में ही उचित उत्तर दिये बिना आगे बढ़ना विषय को समझने की दृष्टि से किसी खास उपयोग का न होगा। इसके लिये आवश्यकता इस बात की है कि पहले भिखारी की सुनिश्चित एवं स्पष्ट परिभाषा को समझाया जाय। देखा जाय तो भिखारी वह व्यक्ति है जो शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से किसी न किसी प्रकार का श्रम करने में समर्थ होते हुए भी, बिना श्रम किये बिना कोई अच्छा प्रयोजन लिये दूसरों के समक्ष पोषणार्थ हाथ फैलाता है। अब यदि इस परिभाषा को

विस्तृत एवं विपद् रूप मे वर्णित करे तो इसमे अधोलिखित तत्व निहित मालूम पडते हैं—

(१) वह व्यक्ति भिखारी है जो शारीरिक और मानसिक दृष्टि से किसी न किसी प्रकार का कार्य करने मे समर्थ होते हुए भी कुछ (कार्य) नही करता। यहाँ हमे इस बात से कोई सरोकार नही कि वह काम क्यो नही करता। आवश्यकता यही है कि वह आय सम्बन्धी श्रम न करता हो।

(२) भिक्षा वृत्ति के लिये दूसरा तत्व आवश्यक है किसी सत्प्रयोजन का अभाव। विधानात्मक रूप मे (Positively) बोलते हुए हम कह सकते हैं जहाँ किसी अच्छे उद्देश्य से प्रेरित होकर याचना होती है वहाँ भिक्षा वृत्ति नही। इस तत्व से स्पष्ट हो जाता है कि सन्त भावे की परोपकार एव सर्वोदय से प्रेरित भूदान आदि की याचना भिक्षावृत्ति के अन्तर्गत नही आती।

(३) अन्तिम एव सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व इसके लिये आवश्यक है, दूसरो के समक्ष अपने पोषण के लिये हाथ फैलाना। भिखारी अपने को जीवित रखने के लिये दूसरो पर निर्भर रहते हैं ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार परावलम्बी पौधे दूसरे पौधो से भोजन लेते है। इस प्रकार भिखारी के लिये परोपजीवी होना अनिवार्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भिक्षावृत्ति की इस कसौटी पर कसते हुए ऊपर जिन व्यक्तियो के भिखारी होने के सम्बन्ध मे प्रश्न उठाये गये है वे वस्तुत: भिखारी नही। अत. भिखारी कौन है ? इस बात का अस्त्यात्मक (Positive) उत्तर देने के लिये हमे भिखारियो के प्रकार देखने होंगे।

प्रकार

सार्वभौमिक दृष्टिकोण तो चल ही रहा है साथ ही हमे भारतीय दृष्टिकोण को भी प्रकाश देते रहना आवश्यक है। इस दृष्टिकोण से हम भिखारियो को चार रूपो मे देख सकते हैं, चार वर्गों मे रख सकते हैं।

(१) परम्परागत भिखारी—इस सम्बन्ध मे हम उन भिखारियो को ले सकते है, जिन्होंने भीख मांगना अपने माता-पिता आदि के आचरण से सीखा है। अब प्रश्न है ? कि माता-पिताओ ने क्यो और कैसे तथा किससे (भीख मांगना) सीखा। इस विषय मे कहना न होगा कि भारतीय परिस्थितियो के प्रकाश मे हम धर्मान्धता को इसके लिये उत्तरदायी ठहरा सकते हैं। इस प्रकार के भिखारियो मे आते हैं, जोगी, साधु वेशधारी आदि भिखारी।

(२) अपाहिज भिखारी—जैसा कि इसके अर्थ से ही स्पष्ट है इस श्रेणी में उन याचकों को रख सकते हैं जो अपनी अंग विकृतियों के कारण भिखारी बने हैं और जिनके करुणायुक्त स्वर सहायता हेतु पुकार उठते हैं। इस वर्ग में आते हैं लूले, लँगड़े, बहरे, कोढ़ी इत्यादि। इस विषय में एक और भी बात विचारणीय है और वह है अनेक हृष्ट-पुष्ट व्यक्तियों का भी कभी कभी ऐसा कृत्रिम वेश बना भिक्षावृत्ति को एक संगठित व्यापार बना लेना। स्वय ही शरीर के अंगों में विकार उत्पन्न कर ये लोग जनता की सहानुभूति प्राप्त कर भिक्षावृत्ति का अत्यन्त घिनौना रूप प्रस्तुत करते हैं।

(३) मजबूर भिखारी—इस वर्ग में वे भिक्षुक आते हैं जो जबरदस्ती भिखारी बनाये गये हैं और हम उन बच्चों की चर्चा कर सकते हैं जिन्हे उड़ा लिया जाता है तथा उनसे भीख मँगवायी जाती है। साथ ही यहाँ उन दंडित अपराधियों को भी लिया जा सकता है जिनके पुनर्वास मे उत्तर सरक्षण सेवा (after care services) से भी कोई सहायता नही मिली है। साथ ही समाज जिन्हें अन्य सामाजिक नागरिकों के रूप मे स्वीकार नही करता, अस्तु मजबूरी से उन्हें अपने जीवन-यापन के लिये यही रास्ता अपनाना पडता है। बशर्ते कि वो अपराधी जीवन व्यतीत करने के अनिच्छुक हों।

(४) कामचोर भिखारी—इस वर्ग मे पूर्ण स्वस्थ एव परिश्रम से कतरा कर, आलस्यवश बने भिखारियों को रखा जा सकता है। जैसा कि सभव ही है ऐसे व्यक्ति भिक्षावृत्ति के व्यापार को प्रोत्साहन देते हैं। ये लोग जनता की दान भावना एव अन्धविश्वास का नाजायज फायदा उठाते हैं। यदि भिक्षावृत्ति को समस्या की दृष्टि से देखा जाय तो उपर्युक्त प्रकार के भिखारी तो समाज के ऊपर भारस्वरूप है ही किन्तु ये लोग सबसे अधिक खतरनाक एव उससे भी अधिक घृणित रूप मे समस्या प्रस्तुत करते हैं। वास्तव मे भिखारी समस्या के असली रूप के लिये उत्तरदायी ये ही लोग कहे जा सकते है। इनकी अकर्मण्यता ही इन्हे इतना गिरा देती है। ये लोग भिक्षावृत्ति को अनायास ही अपना पेशा बना लेते है। हम समझते हैं हर व्यक्ति ने अगणित ऐसे ही भिक्षुक देखे होंगे जो पूर्ण स्वस्थ हैं और यदि चाहे तो समाज को अपनी सेवाएँ अर्पित कर ऊँचा उठा सकते हैं।

भिक्षावृत्ति के कारण

यहाँ आरम्भ करने के पूर्व यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि भिक्षावृत्ति द्विमार्गीय प्रक्रिया (two way proces) है। कहने का

तात्पर्य यह है कि इसमे भिक्षादाता एव भिक्षुक दोनो को ही अवधान केन्द्र मे रखना पडेगा। यदि कोई भी व्यक्ति भिक्षा दे ही नही तो भिखारी रह ही नहीं सकते। इसी बात को ध्यान मे रखते हुए हम इसके कारणो को अधोलिखित रूपो मे देख सकते है—

(१) आनुवशिकता—यहाँ कहने का तात्पर्य यही है कि अनेको भिखारी अपने बच्चो से भी भिक्षावृत्ति का पेशा कराते है। इसमे तो कोई सन्देह की बात नही कि वास्तव मे जन्मोपरान्त उनके माता-पिता ही उनके विधाता होते है। अत. जैसा वे चाहे वैसा ही उन्हे बना सकते हैं। अब क्योंकि भिखारियो को लाचारीवश कहीं या कैसे भी अपनी वृत्ति के प्रति किसी प्रकार भी लज्जाजनक भावना रहती ही नही। अत. उसे बच्चो को सिखाने मे भी ये नही हिचकिचाते।

(२) दरिद्रता—यह कहने मे अतिशयोक्ति न होगी कि वास्तव मे मानव भिखारी तब ही बनता है जबकि उसे भरण पोषण का अन्य साधन प्राप्त नही होता। अस्तु अधिकाश भिक्षु ऐसे ही होते हैं जो भूख मे पीडित होकर मजबूरी मे भिखारी बनते है। जब व्यक्ति को जीविकोपार्जन का कोई भी साधन उपलब्ध नही होता तो विवश होकर जीवित रहने के लिये—उसे भिक्षावृत्ति स्वीकार करनी ही पडती है। इस प्रकार दयनीय आर्थिक स्थिति एक बडी हद तक भिक्षावृत्ति के लिये उत्तरदायी है।

(३) अपगता—हर व्यक्ति जानता है की आज की स्थिति मे अपाहिज तथा इसी प्रकार के रोगग्रस्त व्यक्ति जो कमाने मे असमर्थ हो—के पास इस के अतिरिक्त भरण-पोषण के लिये अन्य कोई साधन ही नही। दूसरे शब्दो मे लूले, लँगड़े, गूँगे, बहरे, अधे आदि अगहीन व्यक्तियो के लिये इसके अतिरिक्त और कोई सरल रास्ता ही नही रहता। अत लाचारी से उन लोगो को यही वृत्ति अपनानी पड़ती है।

(४) बेकारी—भिखारी और बेकारी का घनिष्ट सम्बन्ध है। कोई भी व्यक्ति भिक्षावृत्ति को स्वेच्छा से नही अपनाता बल्कि परिस्थितियाँ उसे इस घृणित कार्य को अपनाने के लिये मजबूर कर देती है। इन परिस्थितियो मे बेकारी का नाम भी बडे-२ अक्षरो मे लिखा जा सकता है। इस प्रकार हम देखते है कि बेकार व्यक्ति के लिये इसके अतिरिक्त जीवित रहने का अन्य कोई मार्ग ही नही है। अत मजबूरी मे उसे भिखारियो की सख्या मे वृद्धि ही करनी पड़ती है।

(५) स्वाभिमान आत्मनिर्भरता एवं विश्वास की कमी—गरीबी और वेकारी ही किसी व्यक्ति को भिखारी बना देती हो ऐसी बात नही। ये दोनों तो एक बार गौण कारण कहे जा सकते हैं। किन्तु प्रधान रूप से एक व्यक्ति भिखारी बनने पर कब विवश होता है? केवल तभी न जबकि उसकी दृढता नष्ट हो जाती है, उत्साह मिट जाता है, और आत्म-विश्वास टूट जाता है। अस्तु जब व्यक्ति आत्मनिर्भरता और विश्वास की दीवार को परिस्थितियों से उलझ कर पार करने में असमर्थ हो जाता है बस तब ही वह भिक्षुक का रूप धारण कर लेता है। अधिकतर भिखारी, आदि बनने के इतिहास को खोजा जाये तो, इसी श्रेणी के लोग मिलेंगे। ये ऐसे लोग हैं जो जीवन से हार मान कर सघर्ष के समक्ष माथा टेक कर जीवन-यापन का यह सीधा सादा और कम जोखिम का काम उठा लेते हैं। इस सबके विपरीत मेरा अपना यह विश्वास है कि यदि कोई करना चाहे तो इस दुनिया मे ऐसा कोई काम नही जो असभव हो। आवश्यकता केवल लगन और उत्साह की है। परिस्थितियां उसके कार्य में बाधक हो सकती हैं किन्तु उसे नष्ट नही कर सकती, अत. ससार मे कुछ भी कर डालना असम्भव नही। बहुधा किसी भी काम का सबसे कडा भाग होता है उस काम को अपना कर शुरू करना। अस्तु पहली आवश्यकता है किसी भी काम के श्रीगणेश करने की। इसके होते ही मनुष्य को भिक्षावृत्ति को अपनाने की आवश्यकता नही होगी।

(६) आलस्य और अकर्मण्यता—बहुत से भिखारी केवल आलस्य और अकर्मण्यता को छिपाने के लिये इस पथ की शरण लेते हैं। दूसरे शब्दो मे अनेकों भिक्षु ऐसे व्यक्ति होते है जो परिश्रम से जी चुराते हैं और अपने निठल्ले-पन को इस वेश में छिपाये रहते हैं। इस प्रकार आलस्य एव स्वाभिमान का अभाव एक बहुत बडी हद तक भिक्षावृत्ति का कारण होता है। यदि ऐसा न हो, मनुष्य कर्म की ओर प्रवृत हो तो आत्म विश्वास एव कार्य-प्रयास द्वारा प्रत्येक दारुण एव असफल परिस्थिति भी स्वयं एक दिन मनुष्य के पैर चूमने लगती है। अतः स्पष्ट है कि कामचोर व्यक्ति इस क्षेत्र मे अनायास ही कदम रख देता है। एक कहावत है "डील मेरो घूम घुवांरो नींद अच्छी आवें, काम काज होत नाँय हलवा पूड़ी भावें।" कहने का तात्पर्य यह है कि इस कहावत को चरितार्थ करने वाले अधिकतर लोग भिक्षावृत्ति को अपना लेते हैं।

(७) सर्वाधिक सरल और लाभदायक पेशा—भारतीय परिस्थितियों के प्रकाश मे देखने पर लगता है जैसे वास्तव मे भिक्षावृत्ति के लिये

केवल भिक्षुक ही नही वरन् सम्पूर्ण जनसाधारण ही उत्तरदायी है। कहना न होगा कि हम लोग स्वय यह जानते हुए भी कि व्यक्ति हृष्ट-पुष्ट है उसे भिक्षा देकर अप्रत्यक्ष रूप मे इस वृत्ति के लिए अधिक प्रोत्साहित करते हैं। इसी कारण से ये लोग "जिसे मिले यो वह खेती करे क्यो" वाली कहावत को चरितार्थ करते हैं। सरल सी बात है कि जब उन्हे बिना किसी प्रयास के ही मिल जाता है तो उनके विचार मे वे कार्य करने का कष्ट क्यो उठायें। कर्म के मर्म की महत्ता को तो वे समझते ही नही। यह तो रही इस पेशे की सरलता की बात।

अब हमने इसे लाभदायक पेशा इसलिये कहा है कि अनेक हट्टे कट्टे प्रमादियो ने भिक्षा को अपना व्यापार बना रखा है। यह कहना अनुचित नही होगा कि भिक्षावृत्ति आज एक सगठित व्यापार का भी एक रूप ले चुकी है। जिसमे हजारो नौजवान तथा अपहृत बच्चे काम कर रहे है। ये लोग शरीर के अगो मे विकार उत्पन्न कर, अन्य लोगो की सहानुभूति प्राप्त कर जनता को खूब लूटते है।

इसका अगला पहलू यह है कि अनेको साधु वेशधारी असाधुओं ने प्राचीन और नवीन महात्माओ के नाम पर अपने अड्डे बना रक्खे है, जहाँ पर तरह-तरह के पाखण्ड रच कर भोली जनता को ठगा जाता है। इनके अड्डो मे यदि कोई सीधा, सच्चा व्यक्ति पहुँच जाता है तो पूरा गिरोह उसके विरुद्ध हो जाता है। इस प्रकार ऐसे अड्डे और गिरोह भी भिक्षावृत्ति को पूरा-पूरा बल देते है।

इसका एक और भी घृणित रूप है। यद्यपि हर व्यक्ति एक ही आचरण का नही होता लेकिन अधिकाश भिक्षुको की सख्या ऐसे ही लोगो मे गिनी जाती है जो देश, समाज और कानून द्वारा उपेक्षित रहते है। जो दिन मे भिक्षा-दान लेते है तथा रात्रि को जीवन-दान यमराज को अर्पण करते है। दूसरे शब्दो मे प्राय: चोर एव डाकू भिखारियों का वेश बनाकर घर-घर भिक्षा मांगने आते है, रात को अवसर पाकर चोरी कर लेते है।

(८) समाज का ठुकराना—अनेको ऐसे व्यक्ति जो समाज द्वारा ठुकराये गये है या भयकर अपराधी होने के कारण अब अपने समाज मे पुनर्वास पाने मे असमर्थ है बहुधा जीवित रहने के लिये इस वृत्ति को अपना लेते है। इनमे ऐसे भी व्यक्ति आते है जो गरीबी की दशा मे दर दर का शिकार बनकर इधर आ भटके है। इन्ही मे हम गुण्डो और बदमाशो के

बहकावे में आकर, अपनी जिन्दगी खराब कर, जीवित रहने का यह रास
अपनाने वालों को भी सम्मिलित करते हैं। एक मूर्तिमान उदाहरण देते हु
हम कह सकते हैं कि किसी भी अपराध में जेल काटकर आये व्यक्ति को ज
अपने समाज में जैसा कि होता ही है, आश्रय नहीं मिलता तो उसे लाचा
हो यही जिन्दगी अपनानी पड़ती है।

(९) दूषित आर्थिक संगठन—भिक्षावृत्ति के सम्बन्ध में समाज
आर्थिक संगठन पर भी ध्यान देना उचित होगा। यहाँ पूँजीवादी व्यवस्
विशेषतया विचारणीय है। कहना न होगा कि पूँजीवादी शोषण जिसके कारण
इन्सान ने इन्सान के रहने, सहने, खाने और कपड़े तक के अधिकार हथियाक
उसे भीख माँगने के लिये मजबूर कर दिया है, भी इस सम्बन्ध में विशे
महत्वपूर्ण है। कुछ विद्वानों के विचार में भारतवर्ष में भिखारी समस्या का
मुख्य कारण है "सामाजिक असामानता" एवं "धन की पूजा"। समाज में
फैली हुई यह ऊँच-नीच की भावना तथा धन के विषय में प्रचलित दकियानूसी
विचार एक बहुत बड़ी हद तक अनेकों निर्धनों को भिक्षावृत्ति के लिए मजबूर
करते हैं। एक व्यक्ति के तो कुत्ते भी जहाज में बैठकर विदेशों की सैर पर
निकलते हैं, दूध एवं बहुमूल्य व्यंजनों का उपभोग करते हैं और दूसरे व्यक्ति
को स्वयं के लिये सुबह से लेकर शाम तक के लिये कुछ खाने तक को नहीं,
फिर जहाज में बैठना तो उसके लिए आकाश कुसुमों के पाने के सदृश्य है।
अतः स्पष्ट है कि अव्यवस्थित स्थिति एवं दूषित आर्थिक संगठन अपनी चरम
सीमा तक भिक्षावृत्ति के लिये उत्तरदायी है।

(१०) धर्मान्धता एवं दान की भावना—भारतवर्ष को विशेषकर
मद्देनजर रखते हुए हर व्यक्ति यह स्वीकार करेगा कि यहाँ जनता की धर्म
परम्परा एक बड़ी सीमा तक भिक्षावृत्ति को प्रोत्साहित करने का उत्तरदायित्व
सभाले है। यह कई रूपों में भिक्षावृत्ति को बढ़ावा देती है जो
अधोलिखित हैं—

प्रथम जैसा कि हम पहले ही संकेत दे आये हैं कि यहाँ की हर चीज
सापेक्ष है, परम्पराश्रित है। इसी प्रकाश में हम कह सकते हैं कि जब देने वाला
ही न होगा तो लेने वाला कहाँ से रहेगा। अब यह भारत की धर्मान्धता ही
व्यक्ति को दान देने के लिये प्रेरित करती है। जब दान देने वाला ही इच्छुक
है तो लेने वालों का इस अनायास आये दान से क्या बिगड़ता है। उन्हें तो
[illegible] कुछ मिलता ही है।

इस प्रकार यहाँ हमने भिखारी समस्या के अनेक कारणों पर विच किया। लेकिन यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि इसमे कोई अकेला एक कारण व्यक्ति को भिखारी बनाने के लिये उत्तरदायी नही अपि किसी न किसी अश में इनमें से कई कारण उसकी इस भिक्षावृत्ति की स्वीकृ के पीछे छुपे रहते है।

समाधान—ससार मे केवल भारत ही एक ऐसा देश है जिस भिखारियो की संख्या अन्य देशो के भिखारियो की संख्या की अपेक्षा अधिक है अनुमानत. भारत मे ३० लाख से भी अधिक व्यक्ति भिखारी हैं। उस पर भ खेद इस बात का कि दिन प्रतिदिन भारत में भिखारी समस्या का उत्तरोत्त विकास हो रहा है। कहना न होगा कि यहाँ देश में वास्तव में एक प्रकार क सकट है जिसके लिये देश के प्रत्येक विचारशील नागरिक के मस्तिष्क में एव चिन्ता है। किसी भी राष्ट्र के कर्णधार उसके निवासी, उसके व्यक्ति तथ उसके नागरिक ही होते हैं। अब यदि वे नागरिक ही वैधानिक विघटन के भिक्षावृत्ति के घृणित रूप के शिकार हैं तो देश की उन्नति के स्वर्णिम स्वप्न एव गुलाबी आशाएँ निरर्थक ही सिद्ध होगी। इस प्रकार भिखारी समस्या का दारुण एवं विशाल रूप जो मानव के सामने समयानुकुल नित्यप्रति निखरता आ रहा है वह हर समाज, हर देश पर, एक बोझ है, एक दोष है, एक अभिशाप है। उस पर भी मजा इस बात का है कि समस्या की भयकरता देखकर कोई भी तो इस विषय में नया कदम उठाकर हल करने की कोशिश नही करता। फिर भी सरकार इस दिशा मे थोड़ी प्रयत्नशील है और इसी सम्बन्ध में प्रान्तीय स्तर पर विभिन्न प्रयोग कर रही है।

इस प्रकार उपर्युक्त समस्त बातो को ध्यान मे रखते हुए हम कुछ उपयोगी प्रायोगिक सुझाव प्रस्तुत करते है जो यदि किसी सीमा तक कार्यान्वित किये जाएँ तो अवश्य सफलता प्राप्त होगी—ऐसी मेरी धारणा है, ऐसा मेरा विश्वास है।

(१) केन्द्रीय कानून—वास्तव मे इस दिशा मे सर्वप्रथम सरकार को ही अपना प्रथम कदम उठाना चाहिये। दूसरे शब्दो मे भिखारियो पर प्रतिबन्ध लगाये जायें और जो भिखारी उलघन करे उस पर अभियोग चलाकर दण्ड दिया जाय। दूसरे शब्दों मे सरकार को एक कानून बनाना चाहिये जिसमें भीख माँगना अवैध करार दे दिया जाय। यह ध्यान रहे कि यह कानून प्रान्तीय स्तर पर न होकर केन्द्रीय स्तर पर बने। यहाँ एक बात विचारणीय

है कि अगर कोई कानून बन जाये और कार्यरूप मे परिणत हो जाय किन्तु भिखारियो की उदरपूर्ति की समस्या पर कोई विचार न किया गया तो यह कानून चोरी, डाके आदि को बल देकर समाज के लिये एक और भी अभिशाप बन जायेगा। इसलिये कानून लागू करने से पूर्व कुछ ऐसे आवश्यक कदम भी उठाये जाने चाहिये जिससे भिखारियो मे असतोष न बढे।

अतः इस प्रकार हम कह सकते है कि जिस प्रकार इगलैण्ड मे भिक्षा मांगना कानूनी अपराध है उसी प्रकार भारत मे भी भिक्षा मांगना कानूनी अपराध होना चाहिये। अत यह पूर्ण विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि यदि कडाई के साथ इस कानून का पालन कराया जाय और साथ ही उनके उदरपूर्ति के साधन सम्बन्धी आवश्यक कदम उठाये जायें तो इसका निवारण अति शीघ्र ही सभव है।

(२) शिक्षा—कहने की आवश्यकता नही कि बच्चे को जैसा चाहेगे बनाया जा सकता है। उसके महान अथवा नीच बनने के लिये वह उत्तरदायी नही वरन् हम और आप है। बच्चे का हृदय एक कोमल थाला है, जिसमे आप चाहे तो कटीली झाडी लगा सकते है और चाहे तो कोमल और सुगन्धित पुष्प। अब इस बनाने की प्रक्रिया मे ही शिक्षा का महत्त्व आता है जो कि दो रूपो मे स्पष्ट किया जा सकता है।

प्रथम तो भिखारियो के बालको को सरकार को अधिकार मे ले लेना चाहिये तथा उनके लिये भोजन एव सफल नागरिक बनाने के लिये उपयुक्त शिक्षा की व्यवस्था करना आवश्यक है। इसका परिणाम यह होगा कि ऐसे बालक जो भिखारियो के साथ रहकर भिक्षा मांगकर भिखारी ही बनते हैं तथा देश और समाज के ऊपर एक भार-स्वरूप सिद्ध होते हैं। अब एक स्वावलम्बी नागरिक बनकर देश की उन्नति मे हाथ बँटायेंगे और देश के लिये वरदान-स्वरूप सिद्ध होंगे।

द्वितीय जैसा कि हम कह ही आये है कि भिक्षुक का अस्तित्व उसी क्षण तक है जब तक भिक्षादाता मौजूद है। जहाँ भिक्षादाता ही नही रहेंगे, भिक्षुक रहने का प्रश्न ही नही रहता। तो कहने का तात्पर्य यह है कि ये पीढ़ी तो अपनी दान-भावना मे धर्मान्ध है ही किन्तु आज के बालक जो कल राष्ट्र के नायक बनने वाले है उन्हे यदि हमारे शिक्षक दानवृत्ति के समाज पर होने वाले दुष्परिणाम समझा दें तो देश का बहुत उद्धार हो सकता है। यहाँ कहना जरूरी नही कि शिक्षक का विद्यार्थी पर बहुत प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार

हम कह सकते हैं कि स्कूलो और कालेजो द्वारा इस समस्या का समाधा पर्याप्त अश मे हो सकता है।

इस प्रकार हम देखते है कि जब शिक्षा की ध्वजा अपनाये दोनों ह ओर से अर्थात भिक्षु बालकों एवं भावी भिक्षादाता बालको की ओर से कदम चलेगे तो इस समस्या को छुपने के लिये कही स्थान ही नही रह जायेगा औ परिणामस्वरूप उसे समूल नष्ट होना ही पडेगा।

(३) पंगु आश्रम—जैसा कि प्रारम्भ में ही सकेत दे आये हैं कि कानून के साथ ही साथ सरकार को कुछ और उपचारात्मक कदम उठाने होंगे। उन्ही मे पगु आश्रम भी एक है। केवल कानून ही बनाकर और इन अपंग, अगहीन व्यक्तियो के लिये कुछ न करने का तात्पर्य है मानवता पर अत्याचार करना। अतः इनकी आवश्यकता पूर्ति का आयोजन भी महत्वपूर्ण है। इसके लिये सहायता के वास्तविक पात्रो के लिये 'पगु आश्रम' खोले जायें। इनका रूप लघु उद्योग सस्थानुमा होना चाहिये। अधिक व्यावहारिक होते हुए हम कह सकते है कि असमर्थ और अपंग व्यक्तियों के लिये सरकार की ओर से उद्योग केन्द्र खोले जायें तथा उनको कुछ लघु उद्योग—यथा, कारीगरी, हस्तकला, आदि सिखाकर उन्हे स्वावलम्बी बनाया जाय। दूसरे शब्दो मे अग विकृत्ति वाले भिखारियों को ऐसी सस्थाओ पर रखकर उनको सामर्थ्य के अनुसार काम सिखाया जाय और करने को दिया जाय। जैसे नेत्र-विहीन को गाना सिखाने, सूत कातने, बुनने आदि का।

सूत कातने का काम भिखारियो के लिये बहुत उपयुक्त है और देश के लिये भी लाभकारी है, क्योकि इस काम मे व्यय कम और आय अधिक हो सकती है। मिल के कपडे पर कर लगा इसमे अधिकाधिक निर्यात द्वारा आय प्राप्त कर भिक्षुको पर व्यय किया जा सकता है और इस प्रकार उन्हे स्वावलम्बी बना देश को स्वावलम्बी बनाया जा सकता है।

फिर दान जो कि भिक्षावृत्ति का मूल कारण है के विषय मे मनुस्मृति मे कहा गया है कि "दान उपयुक्त पात्र को दो और इस प्रकार दो कि दायें हाथ दे तो बायें हाथ को पता न चले।" लेकिन भिक्षुदान को ध्यान मे रख हम कह सकते हैं कि यहाँ विपरीरतः देने वाले के अह की भावना तथा लेने वालो में हीनता की भावना स्थान पाती है। इस दृष्टि से देखते हुए इन लघु उद्योग सस्थाओ मे सूत कातने और खरीदने वालो मे यह भावना नही रहती। अस्तु यह सब व्यक्तियों के लिये हर दृष्टि से विवेक सगत है।

अब यहाँ एक बात और भी विचारणीय है कि प्रारम्भ मे इस शुभ काम का श्रीगणेश करने के लिये सरकार पर पर्याप्त कोष न हो। ऐसी दशा मे सरकार उन असमर्थ भिक्षु मानवो के उद्धार के लिये जनता से नाममात्र के बराबर प्रारम्भिक कुछ दिनो के लिये कर ले सकती है। फिर उनके लघु उद्योगो के चलने पर तो स्वयं ही अपने जीविकोपार्जन मे वे समर्थ हो ही सकेंगे। सम्भवतः अपने घर और दुकानो पर भिक्षुदान देने वाले लोग इस प्रस्ताव से अवश्य सहमत होंगे।

अत. सरकार को चाहिये कि देश मे जितने भी अपाहिज भिक्षुक हैं उनके लिये किसी भी प्रकार की रचनात्मक कार्य संस्था स्थापित की जाय और सबको इस कार्य की ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न किया जाय। ध्यान रहे कि प्रारम्भ मे उनके भोजन, पोषण का भी प्रबन्ध सरकार की ओर से होना चाहिये, फिर कुछ समयोपरान्त उनकी इस सहकारी व्यवस्था पर भी चल सकता है।

निन्यानवे प्रतिशत विचारकों का तो यही मत बन गया है कि इस सम्बन्ध मे वास्तविक असमर्थों के आवास और भोजनादि के प्रबन्ध के साथ-साथ विभिन्न उद्योग-धन्धों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाय।

राजधानी की "भिखारी कल्याण समिति" भी इस दिशा मे प्रयत्नशील है और अपने रचनात्मक कार्यक्रम के अन्तर्गत जनमत तैयार करने का प्रयास कर रही है। यह वास्तव मे इस समस्या के लिये बडा सीधा और सरल हल है। इस प्रकार सरकार एव सुधारक संस्थाएँ इस समस्या के निवारणार्थ गहरा अध्ययन एव मनन कर रही हैं। फिर जैसा कि हमने संकेत दिया है कुछ कदम इस दिशा मे उठाये भी गये है किन्तु वास्तविक हल अभी तक हाथ नही लगा है।

(४) पंजीकरण—उपर हमने उन भिखारियों के सम्बन्ध मे विचार किया जो अपाहिज है, असमर्थ है। अब असली समस्या है उन भिखारियो की जो पूर्ण स्वस्थ होते हुए भी, समर्थ होते हुए भी, हृष्ट-पुष्ट होते हुए भी काम नही करते। ऐसे अकर्मण्य के विषय मे हमारा सुझाव है कि सरकार द्वारा उन पर कड़ी कार्यवाही की जाय तथा उनकी शक्ति के अनुसार उनसे काम लेकर उन्हे यथोचित भोजन दिया जाय।

इस सम्बन्ध में अधिक विश्लेषण देते हुए हम कह सकते हैं कि ऐसे भिखारियों का पंजीकरण कर देना परमावश्यक है और उन्हें विकास-कार्यों मे लगाना आवश्यक है। इसका परिणाम यह होगा कि एक ओर तो भिखारी समस्या का उन्मूलन होगा, दूसरी ओर भिक्षुकगण श्रमनिष्ठ होकर देश के उत्थान के कार्यों मे हाथ बटायेंगे। यहाँ यह बतला देना आवश्यक होगा कि यूगोस्लोविया मे यह पंजीकरण की योजना अच्छी प्रकार सफल हुई है। वहाँ भिखारियों ने मिलकर सड़कें, रेलें तथा अन्य राष्ट्रीय विकास के कार्यों मे सराहनीय योगदान किया है। चूकि भारत मे भिखारियों की समस्या दिन-प्रतिदिन वृद्धि पर है अतः पंजीकरण आवश्यक है। जैसा कि हम कारणो मे स्पष्ट कर ही आये हैं कि अनेको व्यक्ति अपनी अकर्मण्यता एव आलस्य के वशीभूत हो इस उदरपूर्ति के सरलतम साधन भिक्षावृत्ति को अपनाते हैं। अतः आवश्यकता इस बात की है, इन्हे भरपेट एव अच्छा भोजन देकर इनकी शक्ति का सदुपयोग किया जाय।

अस्तु जैसा हमने अपाहिज भिखारियों के विषय मे बतलाया कि सरकार उनको ऐसे कार्य करने को दे जिन्हें वे सरलतापूर्वक कर सकें, इसी प्रकार हम इन स्वस्थ भिखारियो के विषय मे कह सकते है, कि इनको इनकी शारीरिक एवं मानसिक योग्यतानुसार सड़कें, रेले तथा अन्य राष्ट्रीय विकास के कार्यों मे लगाकर उन्हे अपनी जीविका कमाने योग्य बनाना अत्यावश्यक है।

कहना अनावश्यक न होगा कि जिनका शरीर पूर्णरूपेण स्वस्थ एवम् स्वास्थ्य अच्छा हो, उनको सेना मे भरती कर देना चाहिये। परिणामस्वरूप एक ओर तो देश की सैनिक शक्ति मे वृद्धि होगी और दूसरी ओर वे लोग भी राष्ट्र मे उपयोगी नागरिक बन सकेगे।

(५) बेकारी का बहिष्कार—कहने की आवश्यकता नही कि बेरोजगारी को दृष्टिगत न रखते हुए भिखारी समस्या का हल खोजने मे व्यस्त लोगो को पराजय का मुँह देखना पड़ेगा। हम कारणो मे स्पष्टतः देख आये है कि भिखारी और बेकारी का गठबन्धन नही तो घनिष्ठ सम्बन्ध अवश्य है। फिर भारत मे तो आज बेकारी का बोलबाला है। इसलिये यदि भारत की उन्नति के मार्ग को निष्कटक बनाये रखना है तो आज यह अत्यन्त आवश्यक है कि सरकार की ओर से समाज के प्रत्येक वर्ग के लिये काम की पर्याप्त व्यवस्था होनी चाहिये।

निवारण के सम्बन्ध में जो हमने कहा वैसा होने पर भी एक प्रश्न शेष र जाता है कि पर्याप्त कार्यों की व्यवस्था रहते हुए भी कोई भी काम करन न चाहे उस दशा में क्या हो। अतः कहा जा सकता है कि केवल नौकरं देकर या काम देकर ही भिखारी समस्या का समूल उन्मूलन संभव नहीं। आज दस भिखारी काम पायेंगे तो कल बीस जीवन संघर्ष के थपेड़ो से हारे हुए व्यक्ति फिर भिखारी हो जायेंगे और इस प्रकार यह क्रम चलता रहेगा, जिसके कारण से इसका रोकना कठिन है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि जीवन की परेशानियों से सफलतापूर्वक उलझने के लिये दृढता, आत्म-विश्वास एवं आत्म-सम्मान तथा श्रम की प्रतिष्ठा होना अनिवार्य है। जब तक व्यक्ति में स्वाभिमान का एक भी अंश शेष रहेगा वह बार-बार श्रम-प्रयास करेगा और किसी भी दशा मे दूसरे के समक्ष हाथ फैलाने मे सकोच करेगा। जब चारो ओर से श्रम की प्रतिष्ठा का शंखनाद होगा तो क्यों न व्यक्ति श्रमनिष्ठ होगा। ऐसा होने पर भिखारी समस्या के लिये कोई क्षेत्र नही रह जाता।

(७) **दण्डित व्यक्तियों के पुनर्वास की स्थापना**—जैसा कि हम कारणो का विवरण देते हुए ही कह आये हैं कि अनेक व्यक्ति जो किसी भी प्रकार सरकार के द्वारा दण्ड पाते हैं, वे मुक्ति के उपरान्त भी कई कारणो से अपने समाज मे स्थान नही बना पाते। यदि वे सामान्य जीवन व्यतीत करना चाहे तो उनके लिये बस एक ही रास्ता शेष रह जाता है और वह है भिक्षावृत्ति। अतः सरकार का कर्त्तव्य है कि ऐसे व्यक्तियो के पुनर्वास के लिये आवश्यक कदम उठाये जिससे ये लोग भिखारियो की सख्या मे वृद्धि कर देश के लिये भार-स्वरूप न हो। हमारी सरकार ने इस सम्बन्ध मे कुछ प्रयोग किए भी है और अब भी कर रही है जो उचित एव आवश्यक ही हैं।

(८) **आर्थिक विकास**—इसमें तो कोई सन्देह नही कि समस्या अपने सूक्ष्म रूप मे (in miniature) समाज के आर्थिक संगठन की ही प्रतिरूप है। अब यदि आर्थिक विषमता आदि की गहरी खाइयों को पाट कर आर्थिक पुर्नसंगठन को बल दिया जाय तो यह भिखारियो की सख्या वृद्धि को रोकने के लिये अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कदम रहेगा। अतः यदि आर्थिक रूप से समाज समृद्ध होगा और प्रत्येक को भरपेट रोटी मिलेगी तो किसी प्रकार की समस्या सरकार के समक्ष न रहेगी और धीरे-धीरे हर प्रकार की समस्या स्वतः ही हल हो जायेगी।

(९) **भिक्षा देना एक पाप है**—कहना न होगा कि आज ढोंगी एव

पाखण्डी लोग भी अनेक ढंगों से विरक्त और असहाय भिक्षुओं में इस प्रकार घुल-मिल गये है कि असली और नकली की पहचान करना कठिन हो गया है। अत ऐसी दशा मे भारतीय धर्मान्ध जनता मे यह चेतना जाग्रत करना आवश्यक है कि भिक्षा देना धर्म नही, पाप है। समाज के एक वर्ग को अपग करना है। यदि आवश्यक समझा जाय तो भिक्षा देना भी एक दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया जाय।

हमारा अपना यह मत है कि जिस प्रकार रिश्वत लेना और देना दोनो ही अपराध माने जाते है इसी प्रकार भिक्षा लेना और देना दोनो ही अपराध माने जाने चाहिये। इस प्रकार उल्लघन करने पर भिक्षावृत्ति को प्रोत्साहन देने वाले व्यक्तियो को प्रारम्भ मे हल्के हल्के दण्ड से दण्डित करना आवश्यक है।

(१०) सलाहकार समिति—सरकार के लिये यह भी आवश्यक है कि उसे एक सस्था स्थापित करनी चाहिये जो कि भिखारियो की आवश्यकताओ एव उनकी समस्याओ से सरकार को अवगत करा उन्हे सुलझाने के लिये उचित सलाह एव समाधान प्रस्तुत करे। यही सही दिशा की ओर एक सफल प्रयास होगा।

(११) जनता एव सरकार का सामूहिक सहयोग—यह कहना अनुचित न होगा कि केवल कानून ही भिक्षावृत्ति का निराकरण कर सकेगा—सन्देहपूर्ण है। अत भिखारी-समस्या का समाधान करने के लिये जनता और सरकार दोनो का सयुक्त प्रयास आवश्यक है। दोनो के सहयोग बिना इस विकट समस्या को दूर नही किया जा सकता।

जनता का कर्तव्य यह है कि वह भिखारियो को भीख देकर आश्रय न दे वरन् उनको भीख देना बन्द कर दे और सरकार द्वारा स्थापित रचनात्मक कार्य-सस्थाओं मे भिजवाने मे उनकी सहायता करे।

अन्त मे एक विचारक ने ठीक कहा है कि हजारो हाथ जो केवल दूसरो की कृपा पर अवलम्बित रहते हैं, यदि वे स्वावलम्बी बनाये जांय तो देश की सम्पत्ति और व्यक्ति की उन्नति होगी, देश मे फैली कायली दूर होगी।

यही हम यह भी कह सकते हैं कि भिक्षुक लोग अपनी ओर से भी अपने इस घृणित जीवन से छुटकारा पाने के लिये भीख न मांगकर सरकार से प्रार्थना करें कि हमको कुछ काम करने को दिया जाय। इस प्रकार जब सब ही ओर से इस समस्या पर प्रहार होगा तो यह बच सकेगी, कोई आशा नही, कभी भी नही।

अध्याय ६

बेरोजगारी

(Unemployment)

बेरोजगारी भारत की वर्तमान समस्याओं में से एक अत्यन्त विकट समस्या है। इससे न केवल वैयक्तिक विघटन ही बढ़ता है बल्कि पारिवारिक एवं सामाजिक विघटन भी बल प्राप्त करता है। यह नैतिक पतन एवं अपराध-वृत्ति को तो प्रोत्साहन देती ही है, साथ ही समाज में बरबादी को भी जन्म देती है जो समय द्वारा सीमित नहीं की जा सकती। इस प्रकार यह न केवल किसी देश विशेष के ही लिये खतरनाक है अपितु सम्पूर्ण मानव-समाज के लिये ही भयंकर है। यही कारण है कि प० नेहरू ने इसे 'आज का प्रमुखतम प्रश्न' (The greatest question of to day) माना है और साथ ही प्रो० एम० एन० अग्रवाल ने ठीक ही इसे 'पहले नम्बर का दुश्मन' (Enemy number one) कहकर सम्बोधित किया है। अस्तु इससे पहले कि हम इसके दुष्परिणामों का अध्ययन करें यह समझ लेना अभीष्ट है कि आखिर बेरोजगारी का अर्थ क्या है। क्या वह व्यक्ति जो काम करना ही नहीं चाहता बेरोजगार कहलायेगा आदि।

क्या है ?

साधारण रूप से बेरोजगारी का तात्पर्य किसी व्यक्ति के किसी कार्य या नौकरी अथवा व्यापार आदि न करने से है। इसके अन्तर्गत नौकरी से ... गये किसी व्यक्ति को भी शामिल किया जा सकता है। किन्तु बेरोज- ... का साधारण शब्दों में यह अर्थ अपने आप में बड़ा उलझा हुआ है। ... इसकी वैज्ञानिक परिभाषा के लिये इसे हम दो दृष्टिकोणों से देख सकते हैं—

(i) विधानात्मक (Positive)

(ii) निषेधात्मक (Negative)

पहले बेरोजगारी के विधानात्मक अर्थ को समझते हुए हम कार्ल प्रिब्राम के साथ कहेगे कि "बेरोजगारी श्रम बाजार की वह दशा है जिसमे श्रम शक्ति की पूर्ति उपलब्ध मांगो से अधिक है।"[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि जब कार्य करने के स्थान तो कम हो और उन पर काम करने वाले व्यक्तियो की संख्या उन स्थानो से अधिक हो तो यह स्थिति बेरोजगारी की स्थिति होगी।

अब निषेधात्मक (Negative) रूप को समझने के लिये हम कहेगे कि 'रोजगार का अभाव' ही बेरोजगारी है। इस हेतु रोजगार शब्द का अर्थ जानना आवश्यक हो जाता है। रोजगार वह दशा है जिसमे व्यक्ति अपने एव कुटुम्ब के पालन-पोषण के लिये आर्थिक उद्देश्य से किसी भी कार्य मे, व्यापार अथवा नौकरी मे लगा हो। अस्तु स्पष्टत: ही इस दशा की अनुपस्थिति ही बेरोजगारी की स्थिति है। सार्जेण्ट फ्लोरेन्स के शब्दो मे "बेरोजगारी उस व्यक्ति की निष्क्रियता से परिभाषित की जाती है जो कार्य करने के योग्य एव इच्छुक है।"[2] फेयरचाइल्ड (Fairchild) का विचार है कि "बेरोजगार एक पारिश्रमिक युत कार्य मे बाधित एव अनैच्छिक पृथक्करण है।"[3]

इस प्रकार इन दोनो दृष्टिकोणो मे बेरोजगारी को देखने के उपरान्त अब हम उसकी विशेषताओ को भी समझते है जो उसका अर्थ स्पष्ट करने मे परम सहायक होगी—

(१) इच्छा—बेरोजगारी के लिये पहली आवश्यक दशा है इच्छा। यदि कोई व्यक्ति काम करना ही नही चाहता और फिर वह कोई काम नहीं कर रहा तो उसे बेरोजगार नही कहा जायगा। उदाहरणार्थ एक सेठ जिसका कि खूब व्यापार चल रहा है, उसका लडका यदि काम की परवाह नही करता

---

1. "Unemployment is a condition of the labour market in which the supply of labour power is greater than the number of available openings." —*Karl Pribram.*

2. "Unemployment has been defined as the idleness of persons able & willing to work." —*Sargant Florence.*

3. "Unemployment is forced & involuntary separation from any remunerative work." —*Fairchild.*

तो वह बेरोजगारी की श्रेणी में नहीं आयगा। कहने का तात्पर्य यही है कि व्यक्ति की काम करने की इच्छा रहते हुए भी जब उसे काम नहीं मिलता तब वह दशा बेरोजगारी की दशा होगी।

(२) क्षमता अथवा योग्यता—केवल इच्छामात्र रखकर काम न मिलने पर ही कोई व्यक्ति बेरोजगार नहीं कहला सकता। यहाँ एक और भी दशा आवश्यक हो जाती है और वह है उसकी शारीरिक एवं मानसिक योग्यता ! यह केवल उसी दशा में जब व्यक्ति शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से योग्य होते हुए भी इच्छा रखने पर काम नहीं पाता वह बेरोजगार कहला सकता है। एक शारीरिक अथवा मानसिक दृष्टि से अयोग्य व्यक्ति यदि इच्छा रखते हुए भी काम नहीं पाता तो हम उसे बेरोजगार नहीं कहेंगे। उदाहरण के लिये यदि कोई वृद्ध व्यक्ति अपनी शारीरिक असमर्थता के कारण कोई काम नहीं कर सकता तो वह बेरोजगारी की श्रेणी में नहीं आयेगा।

(३) प्रयत्न—इच्छा और योग्यता रहते हुए भी यदि कोई व्यक्ति किसी कार्य को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न नहीं करता तो वह बेरोजगारी की दशा उत्पन्न नहीं कर सकता। दृष्टान्तवत् एक प्रथम श्रेणी में सफलता प्राप्त करने वाला व्यक्ति नौकरी की इच्छा एवं योग्यता रखते हुए भी यदि कहीं प्रार्थना-पत्र आदि नहीं भेजता तो वह बेरोजगार कैसे कहला सकता है। अस्तु, केवल इच्छा ही नहीं अपितु प्रयत्न भी बेरोजगारी का एक आवश्यक तत्त्व है।

(४) आर्थिक उद्देश्य—उपर्युक्त समस्त बातों के वर्तमान रहते हुये भी यदि व्यक्ति आर्थिक उद्देश्य को लेकर काम प्राप्त नहीं करता तो वह बेरोजगार ही कहलायेगा। इस बात को एक उदाहरण से पूरी तरह स्पष्ट किया जा सकता है। एक अध्यापक जब अपने बच्चे को पढ़ा रहा होता है तो हम उसे रोजगार में लगा नहीं कह सकते। वह रोजगार में लगा तभी कहलायेगा जबकि वह अपने उस पढ़ाने के कार्य की फीस वसूल करे। इस प्रकार यदि कोई बेकार व्यक्ति कहीं बिना पैसे के ही किसी स्कूल में कुछ कक्षाएँ पढ़ा दिया करता है तो वह बेरोजगार ही कहा जायेगा। इसी प्रकार एक व्यक्ति जिसने चिकित्सा के क्षेत्र में दीक्षा प्राप्त की है यदि वह लोगों का बिना कुछ लिये इलाज कर देता है तो बारोजगार नहीं कहलाकर बेरोजगार ही कहलायेगा। इस प्रकार हम देखते है कि आर्थिक उद्देश्य को साथ लेकर इच्छा, योग्यता एवं प्रयत्न रहते हुए भी रोजगार का न मिलना बेरोजगारी की दशा है।

(५) योग्यतानुसार पूर्ण कार्य का अभाव—उपर्युक्त समस्त लक्षणों के रहते हुए यदि कोई व्यक्ति रोजगार पा लेता है तो वह उसी दशा में बारोजगार कहलायेगा जब कि उसे उसकी योग्यतानुसार पूर्ण कार्य मिल गया है। इसके विपरीत होने पर वह बेरोजगारों की श्रेणी में ही रहेगा चाहे फिर वह आंशिक बेरोजगारी ही क्यों न कहलाये। कहने का तात्पर्य है कि यदि एक ऐसे व्यक्ति को जिसके पास उच्च शिक्षा की अच्छी श्रेणियों की योग्यता है किसी कार्यालय में कोई आंशिक रोजगार (part-time job) मिल जाता है तो वह सामान्यतः बेरोजगार ही कहलायेगा।

इस प्रकार इन समस्त लक्षणों को ध्यान में रख बेरोजगारी की परिभाषा करते हुए हम कह सकते हैं कि यह वह दशा है जिसमें व्यक्ति योग्य, इच्छुक एवं प्रयत्नशील रहते हुए भी आर्थिक उद्देश्य से कोई योग्यतानुसार कार्य प्राप्त नहीं कर पाता है। अस्तु स्पष्टतः ही रोजगार बेरोजगारी की विपरीत दशा है।

बेरोजगारी के प्रकार (Forms of unemployment)

इस सम्बन्ध में यों तो विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं किन्तु फिर भी एक पूर्ण वर्गीकरण के लिये हम रिचर्ड हुक एवं चेपमैन महोदय के मत देख सकते हैं।

हुक महोदय के अनुसार बेरोजगारी के पांच प्रकार हैं जो अधोलिखित हैं—

(१) व्यापार चक्र—व्यापार में लाभ हानि और तदनुसार उतार चढ़ाव आना स्वाभाविक है। अस्तु इससे उत्पन्न बेरोजगारी व्यापार चक्र जनित बेरोजगारी कहलायेगी।

(२) आकस्मिक बेरोजगारी—यह बहुधा उन श्रमिकों के बीच पाई जाती है जो प्रतिदिन वेतन के हिसाब पर रखे जाते हैं। उनके लिये यह कोई निश्चयता अथवा बाध्यता नहीं होती कि वे रोज काम पर लगाये ही जायें। अतः उनके लिये कार्य के अभाव के अवसर कभी भी विद्यमान रहते हैं।

(३) औद्योगिक व्यापार की असफलता युत बेरोजगारी—कुछ उद्योग जब प्रारम्भ होते हैं और कुछ दिनों चलने पर असफल हो जाते हैं तो साथ ही बेरोजगारों की भी एक सेना छोड़ते हैं।

चढाव का आना एक आवश्यक दशा है। इसका फल यह निकलता है कि कभी भी मन्दी के समय देश के अन्तर्गत बेरोजगारी का प्रसार हो जाता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण सन १६२६ की मन्दी है जिसके परिणामस्वरूप अमेरिका के अन्तर्गत एव अन्य देशो मे भी लाखो व्यक्ति बेरोजगारी का ग्रास बन गये थे। सक्षेप मे व्यापार की गति साइकिल के पहिये अथवा पेन्डुलम की भांति होती है जो स्वभावत. ही आर्थिक सकट पैदा कर बेरोजगारी को भी जन्म दे जाया करती है।

(स) सरचनात्मक बेरोजगारी (Structural unemloyment) सरचात्मक बेरोजगारी आर्थिक सगठन के निहित दोष का परिणाम होती है। इसमे बहुधा होता यह है कि काम की कमी नही होती अपितु कमी होती है स्थानीय कारको के कारण उस काम की श्रमिक को सूचना की। कहने का अर्थ यह है कि कभी जब बम्बई मे अनेको श्रमिक बेरोजगार होते हैं तब आगरे मे श्रमिको की मांग हो सकती है। किन्तु क्योंकि बम्बई के श्रमिको को न तो इस विषय मे सूचना ही है और न ही इस प्रकार एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना सरल हो, इसलिये बेरोजगारी स्थान पाती है। अस्तु, इस प्रकार आर्थिक व्यवस्था के दोषो से जनित बेरोजगारी को सरचनात्मक बेरोजगारी कहा जाता है।

(द) साधारण बेरोजगारी (Normal unemployment)— इस प्रकार की बेरोजगारी प्रत्येक श्रम-बाजार मे पाई जाती है, ऐसा कुछ अर्थशास्त्रियो का मत है। फिर आजकल की इन जटिल आर्थिक व्यवस्थाओं के बीच सामान्य रूप से बेरोजगारी का बना रहना अधिक घातक भी नही। यह वास्तव मे समाज, देश एव विश्व के लिये अवाञ्छनीय एव हानिकारक तभी बनती है जब कि यह भयकर रूप धारण करती है।

बेरोजगारी के उपर्युक्त वस्तुगत रूपो के साथ-साथ विद्वान इसके दो रूपो पर और भी प्रकाश डालते हैं जो अधोलिखित हैं—

(य) यान्त्रिक बेरोजगारी—यह वह बेरोजगारी है जो श्रम सचक यन्त्रो (Labour saving devices) के परिणामस्वरूप श्रमिको की मांग कम हो जाने के कारण उत्पन्न होती है। स्पष्ट ही है कि मशीनो का अधिकाधिक प्रयोग होने से शारीरिक अथवा मानसिक श्रम की आवश्यकता अधिक नही रह जाती। उदाहरणार्थ हिसाब-किताब रखने वाली मशीन के उदयस्वरूप लिपिको (Clerks) की मांग कम हो सकती है।

(४) उद्योगों की अवनतिस्वरूप बेरोजगारी—जब किन्ही भी कारणों वश उद्योगों मे किसी प्रकार की अवनति प्रारम्भ हो जाती है तो वहाँ छटनी आदि की समस्या खड़ी होती है जो बेरोजगारी को जन्म देती है।

(५) मौसमी बेरोजगारी—यह वास्तव मे दूसरे शब्दों में सामयिक बेरोजगारी से सम्बन्धित हैं। किन्ही विशेष मौसमों मे कुछ विशेष उद्योग प्रारम्भ होते हैं और मौसम के अन्त के साथ उनका भी अन्त हो जाता है। इस प्रकार अनेकों बेरोजगार हो जाते हैं।

यहाँ तक हमने एल्फ्रेड हुक के अनुसार बेरोजगारी के रूप देखे। अब आगे हम चेंबर्मैन महोदय के अनुसार बेरोजगारी के प्रकारों को देखते हैं। इन्होने वैसे तो सामान्य एवं विस्तृत रूप मे बेरोजगारी को दो रूपों में देखा है प्रथम आन्तरिक बेरोजगारी, द्वितीय वस्तुगत बेरोजगारी।

(i) आन्तरिक बेरोजगारी (Subjective unemployment)—यह बेरोजगारी का वह प्रकार है जिसमे व्यक्ति अपने किन्ही शारीरिक अथवा मानसिक दोषों के कारण रोजगार प्राप्त नही कर पाते।

(ii) वस्तुगत बेरोजगारी (Objective unemployment)—इस बेरोजगारी का आधार वे परिस्थितियाँ हैं जो व्यक्ति के नियन्त्रण के बाहर हैं।

इस वस्तुगत बेरोजगारी को भी अधोलिखित चार प्रकारों मे देखा जा सकता है—

(अ) मौसमी बेरोजगारी (Seasonal unemployment)—यह वह बेरोजगारी है जैसा कि हम देख ही आये हैं जो व्यापार अथवा उद्योग की मौसमी प्रकृति का परिणाम होती है। दूसरे शब्दों में कुछ व्यापार एवं उद्योग-धन्धे ऐसे होते हैं जो एक विशेष मौसम में ही चलते हैं। उदाहरण के लिये हम बर्फ के व्यापार के विषय मे बतला सकते हैं कि यह ग्रीष्मऋतु में ही विशेषकर गतिमान होता है। इसी प्रकार चीनी के कारखाने गन्ने की फसल के समय ही विशेष रूप से कार्यरत रहते हैं। अतः शेष समय में इनमें कार्य करने वाले श्रमिकों को बहुधा बेरोजगार ही रहना पड़ता है। क्योंकि यह मौसम मनुष्य के नियन्त्रण के बाहर की बात है इसलिये यह बेरोजगारी वस्तुगत बेरोजगारी कहलाती।

(ब) चक्रीय बेरोजगारी (Cyclical unemployment)—बेरोजगारी का आधारभूत कारक आर्थिक व्यवस्था है। व्यापार में ज्वार

चढ़ाव का आना एक आवश्यक दशा है। इसका फल यह निकलता है कि कभी भी मन्दी के समय देश के अन्तर्गत बेरोजगारी का प्रसार हो जाता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण सन १९२९ की मन्दी है जिसके परिणामस्वरूप अमेरिका के अन्तर्गत एव अन्य देशो मे भी लाखो व्यक्ति बेरोजगारी का ग्रास बन गये थे। सक्षेप मे व्यापार की गति साइकिल के पहिये अथवा पेन्डुलम की भाति होती है जो स्वभावतः ही आर्थिक सकट पैदा कर बेरोजगारी को भी जन्म दे जाया करती है।

(स) सरचनात्मक बेरोजगारी (Structural uncmloyment) सरचात्मक बेरोजगारी आर्थिक सगठन के निहित दोष का परिणाम होती है। इसमे बहुधा होता यह है कि काम की कमी नही होती अपितु कमी होती है स्थानीय कारको के कारण उस काम की श्रमिक को सूचना की। कहने का अर्थ यह है कि कभी जब बम्बई मे अनेको श्रमिक बेरोजगार होते हैं तब आगरे मे श्रमिको की माग हो सकती है। किन्तु क्योकि बम्बई के श्रमिको को न तो इस विषय मे सूचना ही है और न ही इस प्रकार एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना सरल हो, इसलिये बेरोजगारी स्थान पाती है। अस्तु, इस प्रकार आर्थिक व्यवस्था के दोषो से जनित बेरोजगारी को सरचनात्मक बेरोजगारी कहा जाता है।

(द) साधारण बेरोजगारी (Normal unemployment)—इस प्रकार की बेरोजगारी प्रत्येक श्रम-बाजार मे पाई जाती है, ऐसा कुछ अर्थशास्त्रियो का मत है। फिर आजकल की इन जटिल आर्थिक व्यवस्थाओं के बीच सामान्य रूप से बेरोजगारी का बना रहना अधिक घातक भी नही। यह वास्तव मे समाज, देश एव विश्व के लिये अवाञ्छनीय एव हानिकारक तभी बनती है जब कि यह भयकर रूप धारण करती है।

बेरोजगारी के उपर्युक्त वस्तुगत रूपो के साथ-साथ विद्वान इसके दो रूपो पर और भी प्रकाश डालते है जो अधोलिखित है—

(य) यान्त्रिक बेरोजगारी—यह वह बेरोजगारी है जो श्रम बचत यन्त्रो (Labour saving devices) के परिणामस्वरूप श्रमिको की माग कम हो जाने के कारण उत्पन्न होती है। स्पष्ट ही है कि मशीनो का अधिकाधिक प्रयोग होने से शारीरिक अथवा मानसिक श्रम की आवश्यकता अधिक नही रह जाती। उदाहरणार्थ हिसाब-किताब रखने वाली मशीन के उदाहरणस्वरूप लिपिको (Clerks) की माग कम हो सकती है।

परन्तु यही पर कुछ अर्थशास्त्री विपरीत मत भी रखते हैं। उनका कहना है कि मशीनों से वेरोजगारी उत्पन्न नही होती अपितु कम होती है क्योंकि इनसे उत्पादन में वृद्धि होने के कारण एव मशीनों को बनाने के भी लिये श्रमिकों की ही आवश्यकता पड़ती है।

(र) अर्ध वेरोजगारी—अर्ध वेरोजगारी वह होती है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति को अपनी क्षमता एव योग्यतानुसार काम नही मिल पाता। दूसरे शब्दों मे यहाँ श्रमिक को अपनी योग्यता से कम योग्यता का काम बाध्यता में करना पड़ता है। उदाहरण के लिये एक मजदूर को जिसमें ६ घटे अथवा आठ घटे कार्य करने की क्षमता है केवल दो घण्टे का ही काम मिले या ६ घण्टे से कम का काम मिले एव कम ही वेतन भी मिले तो यह स्थिति अर्ध वेरोजगारी की स्थिति होगी। इसी प्रकार मानसिक योग्यता के क्षेत्र मे यदि उत्तर-स्नातक कक्षा पढ़ाने की योग्यता रखने वाले व्यक्ति को हाईस्कूल मे अध्यापक पद पर नियुक्त होना पड़े तो यह अर्ध-वेरोजगारी का ही प्रमाण है। इस प्रकार यहाँ तक हमने वेरोजगारी के विभिन्न रूपो की व्याख्या की, अब हम भारत के सम्बन्ध मे इसका अध्ययन करते है।

भारत और वेरोजगारी (India & unemployment)

वेरोजगारी आज भारत के समक्ष प्रस्तुत समस्याओ मे से अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर रही है। केवल इतना ही नही कि उसका यहाँ प्रसार ही हो अपितु दिन पर दिन उसका रूप भयंकरतर से भयकरतम की ओर वढ़ता जा रहा है। वैसे प्राकृतिक एव भौतक स्थितियो के देखते हुए भारत सर्वदा से ही परम भाग्यशाली रहा है। किन्तु उस पर भी विशेषता यही है कि आज यहाँ की जनसंख्या का एक बड़ा भाग वेरोजगारी का शिकार है। उसके कारणो का उत्तर हमें भारत के दूषित समाज-आर्थिक सगठन मे प्राप्त होता है।

भारत में वेरोजगारी का प्रसार

इस सम्बन्ध मे आगे बढने के पूर्व यह ध्यान मे रखना आवश्यक है कि हम जो अनुमान देंगे वे रोजगार के दफ्तरों (Employment Exchnges) मे दर्ज हुए केसों के आधार पर टिके हैं। फिर जैसा कि हम और आप सभी जानते हैं वास्तव मे आधे से अधिक लोग ऐसे होते हैं जो इन दफ्तरों मे अपना नाम नही दर्ज कराते। कहने का तात्पर्य यह है कि वास्तव में तो

बेरोजगारी का प्रसार अधोलिखित अनुमान से कही बहुत अधिक है। फिर भी एक सांख्यकीय दृष्टिकोण (Statistical point of view) से हम भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त से आज तक की बेरोजगारी की स्थिति देखते हैं। यह इस प्रकार है :—

वर्ष	बेरोजगारो की संख्या
१९४८	२,३६,९३३
१९५०	३,३०,७४३
१९५२	४,३७,५७१
१९५४	६,०९,७८०
१९५५	६,९१,९५८
१९५६	७,५८,५०३
१९५७	९,२२,०९९
१९६०	१४,००,९६५

इस प्रकार उपर्युक्त आँकडो को देखते हुए कोई भी विचारशील व्यक्ति कह सकता है कि बेरोजगारी की समस्या निरन्तर रूप से वृद्धि प्राप्त कर रही है और भयंकरतम रूप धारण करती जा रही है। फिर यह तो पूर्ण बेरोजगारी की संख्या है। अब जहाँ तक अर्ध बेरोजगारी का प्रश्न है यह तो अपने आप मे और भी अधिक जटिल है। एक विद्वान के अनुसार भारत मे इस समय लगभग २ करोड व्यक्ति ऐसे अर्ध रोजगार मे है जो एक दिन मे केवल एक घंटे ही काम करते है। साथ ही करीब चार करोड और ५० लाख व्यक्ति ऐसे है जो केवल चार घंटे प्रतिदिन काम करते है। इससे अधिक उन्हे मिलता ही नही। संक्षेप मे आज भारत मे बेरोजगारी का भरपूर प्रसार है और दिन पर दिन यह बढ़ता ही जा रहा है।

भारत में बेरोजगारी के रूप

सामान्य दृष्टि से हम बेरोजगारी के रूप पहले देख ही आये है, अब भारत मे प्रचलित बेरोजगारी का वर्गीकरण करके भी देखते है। इसके अधोलिखित रूप देखने को मिलते है—

(१) कृषि सम्बन्धी व औद्योगिक बेरोजगारी—भारत गाँवों का देश है। गाँव का आर्थिक आधार कृषि है। फलस्वरूप यहाँ की अधिकांश जनसंख्या कृषि पर निर्भर है। किन्तु जनसंख्या मे वृद्धि, खेती की मौसमी प्रकृति एवं अवैज्ञानिक कृषि पद्धति के कारण भारतीय कृषक एक बड़ी हद

तक बेरोजगार रहते हैं। डा० राधाकमल मुकर्जी के अनुसार भारत में कृषि पर निर्भर जनता में भूमिहीन लोगों की संख्या लगभग ६-७ करोड़ के बीच है। फिर अर्ध रोजगार की समस्या तो इस क्षेत्र में और भी अधिक भयंकर है। रॉयल एग्रीकल्चर कमीशन (Royal Agricultural Commission) के मत मे भारत के खेतिहर ६ माह तक बेरोजगार रहते हैं। यह तो रहा कृषि सम्बन्धी बेरोजगारी के विषय में। अब जहाँ तक औद्योगिक बेरोजगारी का प्रश्न है यहाँ भी मौसमी उद्योग एव उद्योगो के दोषपूर्ण स्थानीयकरण तथा मिल मालिक की शोषणवादी वृत्ति के कारण बेरोजगारी की समस्या परम जटिल बनती जा रही है।

(२) शिक्षित व अशिक्षित व्यक्तियों की बेरोजगारी—शिक्षित लोगो के बीच बेरोजगारी अपना बहुत ही विकराल रूप धारण करती जा रही है। इस सम्बन्ध मे हम अधिक न कहकर केवल इतना ही कहना पसद करेगे कि दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली एव शिक्षा के क्षेत्र मे शारीरिक श्रम के प्रति एक हीनता का दृष्टिकोण अपनाने के कारण एक ओर तो यह अत्यन्त महगी पड रही है और दूसरी ओर अपना अत्यधिक प्रसार करती जा रही है। इसके साथ ही साथ अशिक्षित लोगो की तो भारत में कमी ही नही। अस्तु ऐसे लोगों के लिये भी रोजगार एक समस्या बन गया है। फिर खासकर वे व्यक्ति जो अशिक्षित तो है ही साथ ही किसी कला अथवा व्यवसाय में प्रशिक्षित (trained) भी नही, अपने लिये कही कोई काम ही नही पाते। अस्तु दोनों ही प्रकार के लोगों मे बेरोजगारी का पूर्ण प्रसार है।

(३) कुशल व अकुशल व्यक्तियों की बेरोजगारी—यहाँ कुशल (skilled) और अकुशल (unskilled) श्रमिक से आशय क्रमशः प्रशिक्षित (skilled) एव अप्रशिक्षित (unskilled से है। कहने का अर्थ यह है कि कुछ व्यक्ति तो किन्ही विशेष क्षेत्रो मे प्रशिक्षित एव अनुभवी होते है और अधिकतर व्यक्ति बहुधा अप्रशिक्षित। यह बात भारत की आज की स्थिति पर पूर्णतया सही उतरती है। अब अकुशल व्यक्ति तो बेरोजगार हैं ही साथ ही सबसे बड़े दुःख की बात यह है कि कुशल व्यक्ति भी एक बडी हद तक अपने लिये कोई रोजगार नही देख रहे हैं।

(४) शहरी व ग्रामीण लोगों मे बेरोजगारी—औद्योगीकरण के विकास के फलस्वरूप भारत मे भी नगरो का विधान एव विकास विशेषकर महत्वपूर्ण है। अब गाँवों मे तो अधिकतर लोग बेरोजगार हैं ही साथ ही यहाँ शहरों मे भी बेरोजगार व्यक्तियो की कमी नही। योजना आयोग के अनुमान के अनुसार

१६५६ में भारत में ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में बेरोजगारों की संख्या क्रमशः २५ लाख एवं २८ लाख थी।

(५) उत्पादक व अनुत्पादक व्यक्तियों की बेरोजगारी—इस उत्पादक एवं अनुत्पादक वर्ग से यहाँ तात्पर्य क्रमशः उन व्यक्तियों से है जो काम करने के इच्छुक तो हैं किन्तु जिन्हें काम मिलता नहीं और दूसरे जो काम करने के योग्य होते हुए भी काम करना ही नहीं चाहते। इन दूसरे वर्ग में भिखारी, साधु, सन्यासी एवं भूस्वामी (land-lord) तथा पूँजीपति आदि आते हैं। इस प्रकार यह अप्रत्यक्ष रूप से एक राष्ट्रीय हानि है।

अस्तु उपर्युक्त समस्त विवरण से यह स्पष्ट है कि भारत में बेरोजगारी हर वर्ग, हर क्षेत्र में तथा हर रूप में अपना स्थान बनाये हुए है। अब यदि हमें इससे भारत की रक्षा करनी है तो उन कारणों को देखना होगा जो कि इसके अभ्युदय एवं वृद्धि के लिये उत्तरदायी हैं जिससे कि उन पर ही प्रत्यक्ष प्रहार कर बेरोजगारी से मुक्ति पायी जा सके।

भारत में बेरोजगारी के कारण

यों तो बेरोजगारी के कारणस्वरूप हम समस्त समाज-आर्थिक संरचना को उत्तरदायी मान सकते हैं किन्तु फिर भी इसके विश्लेषण को स्पष्टतः हम अधोलिखित पहलुओं के द्वारा समझ सकते हैं—

(१) जन-संख्या की वृद्धिमान गति—भारत की जनसंख्या दिन दूनी एवं रात चौगुनी वाली कहावत को चरितार्थ करते हुए बढ़ रही है। यदि आज की स्थिति पर हम दृष्टिपात करें तो मालूम होता है कि पूरे विश्व की जनसंख्या को एक पंक्ति में खड़ा करने पर हर सातवाँ व्यक्ति एक भारतीय है। अब यहाँ पर यह भी नहीं भूल जाना होगा कि 'भूमि' उत्पादन का एक सीमित साधन है और वह सीमित साधन सीमित व्यक्तियों के लिये ही पर्याप्त हो सकता है। परिणामस्वरूप शेष व्यक्तियों को रोजगार मिलने के लिए क्षेत्र ही नहीं रह जाता। स्वाभाविक है कि बेरोजरोजगारी वृद्धि प्राप्त करेगी ही।

(२) परम्परागत कृषि व्यवस्था—भारत एक कृषिप्रधान देश है। यहाँ की ६६.७ प्रतिशत जनसंख्या आज भी कृषि पर निर्भर है। फिर जैसा कि ऊपर संकेत दिया ही जा चुका है कृषि-योग्य भूमि सीमित है। परिणामस्वरूप जनसंख्या की वृद्धि के साथ ही साथ जमीन के छोटे छोटे टुकड़े

आवश्यकता थी। यही कारण है कि आज के विद्यार्थी वर्ग का तीन चौथाई भाग अपने को एक क्लर्क से अधिक कुछ नही पाता।

हमारी प्रस्तुत शिक्षा की सबसे बडी कमी है इसमे श्रम की महत्ता (dignity of labour) का अभाव। विपरीतत यदि कोई पढा लिखा व्यक्ति इस प्रकार का कोई शारीरिक श्रम करे भी तो अनेको लोग उसका मजाक ही बनाते हैं, उसके ऊपर उँगली ही उठाते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि यह श्रम के प्रति एक अप्रतिष्ठा का दृष्टिकोण बडी हद तक शिक्षको की बेरोजगारी के लिये विचारणीय है।

उपर्युक्त बात को ही यदि हम दूसरे शब्दो मे कहे तो कह सकते हैं कि हमारी शिक्षा सैद्धान्तिक अधिक है, व्यावहारिक कम। यह व्यक्ति को जीवन की व्यावहारिकताओ से उनका सफलता प्राप्त करने के योग्य नही बनाती। इस सम्बन्ध मे कहा जा सकता है कि बगाल बेरोजगार समिति का मत ठीक ही है।[1]

(७) देश विभाजन—स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त भारत का विभाजन हो गया। फलस्वरूप भारत के अनेको ऐसे अग पाकिस्तान के क्षेत्र मे पड गये जो कि एक बडी हद तक आर्थिक-समृद्धि के आधार थे। अस्तु यह भी बेरोजगारी का एक बडा कारण रहा।

(८) शरणार्थी समस्या—विभाजन के ही फलस्वरूप पाकिस्तान बन जाने पर वहाँ से असख्य शरणार्थी भारत की ओर आये। इन लोगो से भारत की जनसख्या मे और भी अधिक वृद्धि हुई। उत्पादन के साधन तो सीमित ही रहे। परिणामस्वरूप बेरोजगारो की सख्या मे वृद्धि हुई।

(९) कर का भार – भारतीय सरकार ने उद्योगपतियो पर आयकर एव अन्य इसी प्रकार के अनेक कर लगा रखे हैं। फलस्वरूप इन करो के भार

---

1. "It is like a bamboo, each joint being an examination & the diameter remaining practically the same size from the root to very near top. It has no branches & the crowning top covers a very small area. What is requiring is a spreading tree with branches going off in as many directions as possible at definite points along the trunk not all at the top."

—*Report of Bengal Unemployment Committee.*

११

को सहन करने में जो उद्योगपति पिछड़ जाता है वह अपना उद्योग समाप्त कर देता है। फल निकलता है बेरोजगार श्रमिको की सख्या में वृद्धि।

(१०) आर्थिक अभाव—भारत जो कि एक युग मे सोने की चिड़िया माना जाता था आज वह आर्थिक क्षेत्र मे एक पिछडा हुआ देश बन गया है। एक ओर तो लघु उद्योगधन्धो की अवनति हुई और दूसरी ओर एक विशाल पैमाने पर बड़े उद्योग-धन्धो का अभाव और भी बड़ी हद तक देश की दयनीय आर्थिक स्थिति के लिये उत्तरदायी है। अस्तु जब उत्पादन के साधन ही पर्याप्त नही तो बेरोजगारी का फैलना स्वाभाविक ही है।

अस्तु उपर्युक्त समस्त कारण ही किसी न किसी अश मे भारतीय बेरोजगारी के अभ्युदय एवं विकास के लिये उत्तरदायी माने जा सकते है।

बेरोजगारी के दुष्परिणाम

रोजगार मनुष्य के जीवन का महत्त्वपूर्ण आधार है। यह मनुष्य की क्षुधा नामक प्राथमिक एव आधारभूत आवश्यकता की पूर्ति का एक साधन है। अस्तु अब रोजगार के अभाव के क्या-क्या परिणाम निकल सकते हैं यह हम यहाँ देखते है—

(१) आर्थिक—कहने की आवश्यकता नही कि बेरोजगारी किसी भी देश की समृद्ध आर्थिक व्यवस्था के लिये एक जबर्दस्त खतरा है। जब देश के अधिकतर व्यक्ति रोजगार-विहीन रहेगे तो नागरिको की प्रति व्यक्ति आय (income per-capita) का कम हो जाना स्वाभाविक ही है। यह प्रभावित करेगा प्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति के रहन-सहन के स्तर को। फलस्वरूप देश दरिद्र हो जायगा जो किसी भी दृष्टिकोण से हितकर नही।

दूसरी ओर हम कह सकते है कि बेरोजगारी एक राष्ट्रीय बरबादी (national waste) है। जो श्रम कि अपने आप मे उत्पादक होता है जब उसके प्रयोग एव उपयोग के लिये क्षेत्र तथा अवसर ही नही है तो वह स्पष्टत. ही राष्ट्रीय बरबादी का आधार है।

तीसरी ओर हम कह सकते है कि बेरोजगारी के फलस्वरूप देश दरिद्र बनेगा। अब वह अपने अस्तित्व के लिये दूसरे देश की ओर देखगा। दूसरे शब्दो मे कर्ज लेगा। यह दशा एक लम्बी अवधि मे देश के लिए कितनी घातक हो सकती है बतलाने की आवश्यकता नही। अत. हम कह सकते है कि बेरोजगारी आर्थिक क्षेत्र मे अनेक दुष्परिणामो को जन्म दे सकती है।

(२) सामाजिक—दरिद्रता जो बेरोजगारी की एक देन है अपने आप मे तो एक समस्या है ही साथ ही अन्य अनेक सामाजिक समस्याओ की भी जन्मभूमि है। यह एक ओर तो देश के स्वास्थ्य को दुर्बल बनाती हैं और दूसरी ओर चोरी, डकैती एव आत्महत्या तथा घूसखोरी आदि अनेक अपराधो को जन्म देकर समाज मे एक अव्यवस्था पैदा करती है। दूसरे शब्दो मे यह पारिवारिक एव सामाजिक विघटन की आधार शिला है।

(३) नैतिक—खाली दिमाग शैतान का घर हुआ करता है। जब व्यक्ति के पास कोई काम न होगा तो वह सरलतया ही शैतान का शिकार बन सकता है। इस प्रकार यह देश मे अनाचार, व्यभिचार एव पापाचार तथा भिक्षावृत्ति को जन्म देकर नैतिकता का गला घोट सकती है। अस्तु यह नैतिक पतन का भी मार्ग प्रशस्त करती है। मद्यपान एव वेश्यावृत्ति की समस्या को जटिल बनाती है और इस प्रकार यह वैयक्तिक विघटन को गति देती है।

(४) राजनैतिक—देश का डगमगाता हुआ ढांचा बेरोजगारी का अगला परिणाम हुआ करता है। बौद्धिक वर्ग की बेरोजगारी इस सम्बन्ध मे और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। कहना न होगा कि फ्रास की राज्य क्रान्ति के लिये बेरोजगारी भी एक बहुत बडी हद तक उत्तरदायी थी। फिर क्रान्तिकारी समाजवाद या साम्यवाद उन लोगो मे बडी शीघ्रता से स्थान पाता है जिनके मन मे बेरोजगारी जनित विक्षोभ के कारण वस्तुस्थिति के प्रति एक प्रकार का विरोधी दृष्टिकोण पहले ही घर कर गया होता है।

अस्तु हम साधिकार कह सकते है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे बेरोजगारी के अनेक भयकर परिणाम निकलते है जो किसी भी दशा मे वाञ्छनीय नही।

बेरोजगारी का निराकरण

उपर्युक्त समस्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि बेरोजगारी की समस्या अपने आप मे कितनी भयकर है। अब हमे वे उपाय देखने है जिनसे कि हम इस बेरोजगारी के शिकन्जे से भारत की रक्षा कर सकें। ये अधोलिखित रूप मे देखे जा सकते है—

(१) जनसख्या की वृद्धि मे रोक—कहना न होगा कि माल्थस का जनसख्या का सिद्धान्त आज भारत पर पूर्ण रूप से क्रियाशील हो रहा है। अस्तु अब यदि भारत को बेरोजगारी से मुक्त करना है तो हमे यहाँ की बढती

हुई जनसख्या की दर को रोकना आवश्यक है। फिर चाहे हम इसके लिये परिवार नियोजन (family planning) का सहारा लें और चाहे सयम का। श्रेष्ठ पथ सयम का ही पथ है किन्तु फिर भी अक्षम के लिये परिवार नियोजन (famnily planning) और जन्म-नियन्त्रण (birth controll) के साधन भी कम महत्वपूर्ण नही। यों दोष-विहीन तो यहाँ कुछ भी नही है।

(२) कृषि के वैज्ञानिक ढंग—भारतीय सरकार ने सामुदायिक विकास योजना विभाग के द्वारा कृषि के परम्परागत रूप मे सुधार कराने के प्रयास प्रारम्भ किये है। इनके द्वारा खेती करने के अनेक वैज्ञानिक उपायो का प्रसार एव प्रचार किया जा रहा है। किन्तु व्यावहारिक रूप मे देखते हुए लगता है जैसे जन-सहयोग (public participation) इसमें अधिक उत्साह के साथ नही मिल रहा। अस्तु किसी भी प्रकार यदि कृषक खेती करने के इन नवीन वैज्ञानिक ढँगो को सही रूप में अपना लेता है तो बेरोजगारी की समस्या एक बड़ी हद तक दूर हो सकती है।

(३) घरेलू उद्योग धन्धों का विकास—लघु उद्योग (small-scale industries) कुटीर उद्योगों (cottage industries) तथा घरेलू उद्योग-धन्धे एक बड़ी हद तक बेरोजगारी की समस्या का समाधान कर सकते हैं। अतः जहाँ विशाल उद्योगों का स्थान बने वहाँ साथ ही इन लघु उद्योगों को भी प्रोत्साहन देना वान्छनीय है। इसके लिये पहले से चलने वाले ऐसे छोटे पैमाने के उद्योगों को आवश्यकतानुसार आर्थिक सहायता देकर भी सरकार प्रोत्साहित कर सकती है।

(४) श्रम की गतिशीलता का विकास—यदि स्थानान्तरण भी गति वृद्धि प्राप्त करे तब भी यह समस्या बहुत कुछ सुलझ सकती है। इस सम्बन्ध मे शिक्षा एव सूचना विभाग श्रमिकों का अधिक हित कर सकता है।

(५) रचनात्मक कार्यों में वृद्धि—राष्ट्रीय स्तर पर रचनात्मक कार्यों मे वृद्धि बेरोजगारी की समस्या के हल मे एक बड़ी हद तक सहायक हो सकती है। बाँध, पुल, सड़क, पार्क एव नदी घाटी आदि के निर्माण के कार्यों को बढ़ावा देकर अनेक बेरोजगार व्यक्तियों के श्रम का उपयोग किया जा सकता है।

(६) शिक्षा पद्धति मे सुधार—शिक्षितों की बेरोजगारी आज का ज्वलन्त प्रश्न है। इसके लिये उत्तरदायी है हमारी प्रस्तुत शिक्षा-प्रणाली।

अस्तु यदि इस क्षेत्र की बेरोजगारी को दूर करना है तो उसके लिये सबसे पहली आवश्यकता है शिक्षा के क्षेत्र मे श्रम के महत्त्व की प्रतिष्ठा की। जब तक प्रारम्भ मे ही विद्यार्थी के मन मे श्रम के प्रति एक सम्मानसूचक दृष्टिकोण का विकास नही किया जायगा तब तक भारत मे बेरोजगारी के दूर होने के कोई अवसर नहीं। इतना ही नही साथ ही सैद्धान्तिक शिक्षा की अपेक्षा यान्त्रिक एव व्यावसायिक प्रशिक्षण पर अधिक बल दिया जाना आवश्यक है। फिर जहाँ तक उच्च शिक्षा का प्रश्न है वह केवल उन्ही लोगो के लिये खुली होनी चाहिये जो वास्तव मे प्रतिभाशाली हो अथवा जो वास्तव मे उसके योग्य हो। अन्त मे ग्रामीण क्षेत्रो के स्कूलो मे साहित्यिक शिक्षा के साथ ही साथ घरेलू उद्योग धन्धो की शिक्षा को भी अनिवार्य बना दिया जाना चाहिये। यदि ये सारी बातें कार्यरूप मे परिणत कर दी जाये तो अवश्य ही बेरोजगारी की दर मे आश्चर्यजनक रोक लगेगी।

(७) रोजगार के दफ्तरो मे वृद्धि—बेरोजगारी की समस्या को समझाने एव सुलझाने मे रोजगार के दफ्तरो के योगदान के प्रति आँखे बन्द नही की जा सकती। इन दफ्तरो मे यो तो विभिन्न व्यवसायो के लिये प्रशिक्षण की व्यवस्था है ही किन्तु फिर भी यदि उसकी कार्यक्षमता मे और भी अधिक वृद्धि की जाये तो बेरोजगारी की समस्या के हल का रास्ता परम सरल एव निष्कटक हो सकता है। साथ ही साथ इनकी कुछ ऐसी शाखाओ को बढ़ावा दिया जाय जो गाँवो से एव साथ ही उन क्षेत्रो से जहाँ बेरोजगार श्रमिको का आधिक्य है उन स्थानों पर ला सके जहाँ श्रम की आवश्यकता है।

(८) भू-दान यज्ञ जैसी विचारधाराओं को प्रोत्साहन—सन्त विनोबा सचालित भू-दान आन्दोलन यदि अपने सही अर्थों मे विकसित हो एव वृद्धि प्राप्त करे तो यह एक बड़ी हद तक बेरोजगारी की समस्या को सुलझा सकता है। इसके द्वारा अनेक ऐसे व्यक्तियो को जिनके पास उत्पादन का कोई भी साधन नहीं है रोजगार का साधन प्राप्त हो जाता है जो डूबते हुए को बचाने मे तिनके के सहारे की भाँति महत्त्वपूर्ण हो सकता है। यो तो चर्चा है कि इसमे भी व्यावहारिक रूप मे अनेक दोष आ गये हैं किन्तु फिर भी यदि सही अर्थों मे इसका प्रसार हो तो यह बेरोजगार की समस्या को हल करने मे काफी कुछ सहायक सिद्ध हो सकता है।

(९) देश की आर्थिक स्थिति मे सुधार—वस्तुत. बेरोजगारी की समस्या एक आर्थिक समस्या है। अस्तु जब तक देश की आर्थिक स्थिति मे

अध्याय १०

सामाजिक विकास

सामाजिक अनुशासन

समाज वास्तव में अनुशासन के बल पर चलता है। अनुशासन निम्नलिखित कारणो से जन्म लेता है :—

(१) जीवित रहने की लालसा

(२) एक दूसरे से सम्बन्ध रखने की इच्छा

(३) अपने जीवनयापन का तरीका मनपसन्द रीति से बनाये रखने की लालसा,

(४) सुख पाने की लालसा

(५) उन्नति करने की लालसा

(६) अपने कार्य को आगे तक रखने की लालसा।

(१) मनुष्य ने जीवित रहने की लालसा के कारण ही यह समाज बनाया है। वह अकेला जीवित नही रह सकता। वह अकेला डरता है। डर के निम्नलिखित कारण है—

(अ) उसे भूख का डर लगता है। वह 'अनशन' के भय के कारण ही दुकेला हुआ।

(आ) उसने एक से अधिक का सम्पर्क इसलिये भी स्थापित किया कि उसे अपने मे एक रचनात्मक शक्ति का प्रयोग करना था, जो वह अकेला नही कर सकता था।

(इ) उसे न केवल भौतिक (physical) से भय है—जैसे पशु और जन्तु इत्यादि वरन प्रकृति के भयानक रूपो से भी वह डरता है।

(ई) इसके अतिरिक्त मनुष्य मे बुद्धितत्त्व है, इसलिये उसे अरूप (abstract) से भी भय है। इसके अन्तर्गत भूतप्रेत आदि आते हैं।

इन भयों के कारण उसने अपने को अकेला देखकर सदैव भय का अनुभव किया है। इसलिये वह समाज बनाकर रहता है। समाज अपने लिये नियम बनाता है, उन नियमो का पालन ही अनुशासन है।

(२) मनुष्य सहज ही अभिव्यक्तिशील प्राणी है इसलिये वह एक दूसरे से सम्बन्ध स्थापित करता है। परन्तु सम्बन्ध की एक मर्यादा आवश्यक है। उस मर्यादा से ही अनुशासन चलता है। गुरु शिष्य, पिता पुत्र, भाई बहिन, माँ बेटा, सब ही सम्बन्ध समाज में नियत रहते हैं। प्रत्येक घर मे, एक विशेष समुदाय मे, एक सा ही व्यवहार मिलता है और समाज के सदस्य प्रायः समान रूप से ही पारस्परिक व्यवहार करते है।

(३) हम सिनेमा जाते हैं। टिकिट खरीदने को भीड़ खड़ी रहती है। धक्कम धक्का से टिकिट खरीदना कठिन हो जाता है। जब प्रत्येक व्यक्ति यह सोचता है कि टिकिट पहले मै ले लूँ, आगे जाने मिले या न मिले, तब एक बुरी भावना हृदय मे जन्म लेती है और उसके कारण कुत्सित प्रतिद्वन्द्विता प्रगट होती है। इसलिये हम वहाँ क्यू लगा कर खड़े होते हैं और सरलता से एक के बाद एक कम समय मे ही अपने टिकिट पा जाता है। मनपसन्द तरीके से जीवन यापन करने के लिये ही मनुष्य नियमो मे बधा है। मनपसद तरीके से जीवन बिताने मे समाज मे दो प्रकार के आघात पड़ते हैं :—

(अ) जब एक समाज मजबूर होकर, दूसरे समाज के नियमों के आधीन होकर, अपने तरीके को नही अपना पाता।

(आ) जब एक ही समाज मे वर्गों या वर्णों या व्यवस्था के कारण एक व्यक्ति दूसरे पर हावी हो जाता है।

(४) मनुष्य की जीवित रहने की लालसा प्रवृत्तिपरक (Instinctive) है। यह भावना प्राणीमात्र मे पायी जाती है और प्रत्येक जीव अपने को दूसरे से कम महत्त्वपूर्ण नही समझता, यद्यपि कोई भी अपने अस्तित्त्व की चरम (ultimate) सार्थकता नही जानता। परन्तु खाना, पीना, सोना और जगना, जो जीवित रहने के लिये आवश्यक हैं, मनुष्य उनमे ही सीमित नही हो जाता। वह बुद्धि का प्रयोग करता है। इसीलिये वह जीवित तो रहना चाहता ही है, सुख भी पाना जाना चाहता है। उसकी सभ्यता और संस्कृति का विकास वस्तुत. इसी की पूर्ति के प्रयास मे हुआ है। इसके लिये

[illegible] स्वतन्त्रता चाहता है। स्वतन्त्रता किसी दूसरे के बन्धन की अवहेलना है। परन्तु अपनी स्वतन्त्रता किसी सीमा तक, दूसरे के ऊपर किसी प्रकार का बन्धन है, यदि मनुष्य उसे बन्धन समझे तो वह घुट-घुटकर ही मरता रहे। इस तरह स्व [illegible] बन्धन के रूप में रखता है, तब उसे अनुशासन के नाम पर स्वीकार करता है।

(४) मनुष्य एक दूसरे के सम्पर्क में रहता है, परन्तु उसमें एक विशेषता होती है कि वह अपना व्यक्तित्व भी जीवित रखना चाहता है। इसलिये वह अपनी सत्ता—अपनी इकाई को भी सार्थक करना चाहता है। वह केवल भीड़ बनकर नहीं रहना चाहता। इसलिये कि उसमें उन्नति करने की लालसा होती है। इस लालसा को पूरा करने के लिये वह जिओ और जीने दो की इच्छा करता है। अपनी बात वह कह सके इसीलिये वर्ग रूप में उसने राज-सत्ता का विरोध किया है। प्रजातन्त्र में इसी को बोलने की स्वतन्त्रता' (freedom of speech) कहते हैं। उन्नति का रूप युग-युग में बदलता रहता है। पहले ज़माने में उन्नति का अर्थ लगभग अलग था। आदिम समाज में मनुष्य शिकार किया करता था। धन के समाज में महत्त्व पाने पर धनी होना उन्नति का मार्ग बन गया। पूँजीवादी चाहता है कि वह धन एकत्र कर सके। इसलिये वह कानून की पनाह चाहता है, ताकि कोई उसका धन छीन या चुरा न ले। मजदूर यह कहता है कि इस प्रकार एक की उन्नति अन्यों का शोषण करती है। वह अपनी उन्नति की रक्षा के लिये ट्रेड यूनियन बनाता है। दोनों के अपने-अपने दृष्टिकोण हैं। हमारे सामने निर्णय देने का प्रश्न आता है कि वास्तविक उन्नति क्या है? *वास्तविक उन्नति बहुजन का हित है* (The good of the greater number)। सामाजिक उन्नति दो प्रकार की होती है—

(अ) एक से अधिक व्यक्ति अपने हितों की सुरक्षा चाहते हैं।

(आ) व्यक्ति समाज में अपनी उन्नति चाहता है।

दोनों के लिये अनुशासन की आवश्यकता पड़ती है।

(६) मनुष्य अतीत से प्रेरणा लेता है, परन्तु वर्तमान के लिये वह अपने को सीमित नहीं कर लेता। वह तो भविष्य में भी रहना चाहता है। एक ही समय में मानव समाज प्रायः तीन पीढ़ियों का समुदाय होता है। एक पीढ़ी वृद्धों की होती है, एक पीढ़ी युवकों की, तथा एक बालकों की होती है। तीनों पीढ़ियों के प्रायः ही अलग-अलग दृष्टिकोण होते हैं। परन्तु इन तीनों

के बीच में कुछ सन्धियाँ भी होती हैं। वृद्धों और युवकों के बीच में प्रौढ़ होते हैं। बालकों और युवकों के बीच किशोर होते हैं। यह दो वर्ग अपने आप में अलग नहीं होते। प्रौढ़ का दृष्टिकोण प्रायः ही युवक और वृद्ध के बीच का होता है, जिसमें समन्वय की भावना प्रधान होती है। किशोर में बाल चापल्य तो होता ही है किन्तु युवक का-सा जोश भी होता है। इसे यों कह सकते हैं:—

(अपरिवर्तन)
वृद्ध
> प्रौढ़ [रूढ़ि और विद्रोह का समन्वय]
युवक
(विद्रोह)
> किशोर [विस्मय और विद्रोह का समन्वय]
बालक
(विस्मय)

मानव समाजों के विभिन्न रूप हैं। इन वर्गों के पारस्परिक सम्बन्धों का पालन करना प्रत्येक में आवश्यक होता है। यह समाज विशेष के नियमों पर निर्भर है कि यहाँ किस वर्ग को विशेष अधिकार होते हैं। सामाजिक परिवर्तन इनके पारस्परिक सम्बन्धों में आने वाले भेदों का ही एक नाम है।

सामाजिक परिवर्त्तन

प्रत्येक समाज में परिवर्त्तन होता रहता है। हर जगह परिवर्त्तन की अपनी एक गति होती है। समाज में रिवाज, परम्पराएँ, संस्थाएँ, आदतें और रहन सहन के तरीके बदलते रहते हैं। पुरानी बातों की जगह नई बातें ले लेती हैं। यह सत्य इतना स्पष्ट है कि प्राचीन काल से अब तक के मनीषियों ने परिवर्त्तन को प्रत्येक क्षेत्र में बिल्कुल सहज मान कर स्वीकार कर लिया है। परिवर्तन के निम्नलिखित रूप माने गये हैं—

(१) परिवर्त्तन होने पर एक नयी बात पुरानी की जगह ले लेती है।

(२) परिवर्त्तन वस्तुतः होता नहीं, हमें दीखता है। परन्तु यह दार्शनिक मत है। इसे समाज में प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

(३) परिवर्त्तन एक नियतवादी रीति से होता है—अर्थात् उसका हेर-फेर एक चक्र के घूमने की भांति होता है। भारतीय सामाजिक चिंतन यही मुख्यतया मानता है। हमारे यहाँ, सत्युग, त्रेतायुग, द्वापर, और कलियुग का होना और उनका कल्पांतर में फिर से लौटकर आना इसी सिद्धान्त के अन्तर्गत माना जाता है। क्रमशः ह्रास, और फिर उन्नति और फिर क्रमशः ह्रास, यह भारतीय विचारधारा की मान्यता है।

(४) परिवर्तन सदैव अच्छे के लिये होता है। यह भी प्रमाणित नहीं माना जा सकता, यद्यपि इस तर्क को ईश्वरवादी प्रायः ही दिया करते हैं। किन्तु यह लेखा जोखा रखने की मानव में सामर्थ्य नहीं है।

(५) हेगेल के मतानुसार परिवर्तन द्वन्द्वात्मक होता है। परन्तु वह यह मानता है कि उस त्रय (Triad) अपने क्रम में जो कुछ करता है, वह अपने युग के लिये सर्वश्रेष्ठ होता है।

(६) उपर्युक्त मत को कार्लमार्क्स स्वीकार नहीं करता। उसके मतानुसार प्रत्येक परिवर्तन विकास है, और बुद्धिशील मनुष्य उस परिवर्तन का सचालन कर सकता है। सचालन व्यक्ति नहीं कर सकता। उनके लिये सगठन की आवश्यकता है। समूह का नियत्रण एक दल कर सकता है। परन्तु यह नियम भी सर्वत्र लागू नहीं हो सकता। प्रथम तो यह एक यान्त्रिक दृष्टिकोण है, फिर दल की शक्ति तभी समूह पर लागू हो सकती है, जब बाह्य तत्त्वों का भी प्रभाव पड रहा हो। अपने आप में यह सत्यपूर्ण नहीं है। मार्क्स के मतानुसार दल उछाल (leap) लेकर परिवर्तन कर सकता है। किन्तु इस उछाल की सफलता अन्यों की गति (speed) पर निर्भर करती है। इसमें सफलता और असफलता दोनों ही मिल सकती हैं।

परिवर्तन के अन्य प्रकारान्तर भी माने गये है। एक मतानुसार समाज में बाह्य वस्तुओं और सम्बन्धों का परिवर्तित काफी नहीं है। उसके लिये मन का परिवर्तित होना आवश्यक है। भौतिकवादी मानसिक परिवर्तन को सम्बन्ध परिवर्तनों पर आश्रित मानते हैं।

समाज का परिवर्तित होना बहुत स्पष्ट है। अतीत के समाज और आज के समाज में बहुत बडा भेद है। सामाजिक परिवर्तन की एक सबसे बडी निशानी यह है कि समाज सदैव ही परिवर्तित होता रहता है। इस गतिशीलता की अभिव्यक्ति दो तरह से समाजशास्त्रियों ने स्वीकार की है—

(अ) बूंद बूंद रिसती रहती है और पानी अपने आप, पता चले बिना दूसरी जगह चला जाता है। इस प्रकार का परिवर्तन देखा नहीं जा सकता। जैसे क्रमशः मास-भक्षक ब्राह्मणों ने अहिंसा के सिद्धान्त को अपना कर मास खाना छोड दिया। समाज में केवल पुस्तकें पढ़कर पता चलता है कि पहले वे मांस खाते थे। कुछ लोगों का मत है कलिवर्ज्य नामक धर्मशास्त्र की आज्ञाओं में यह स्पष्ट वर्णित है कि मांस-भक्षण वर्जित है। अत इसे धीरे-धीरे होने वाला परिवर्तन ही कह सकते है। किन्तु मेरे मतानुसार यह बात ऐसी

नहीं है। ब्राह्मणों ने बैठ कर तय नहीं किया था कि वे मांस-भक्षण त्याग देंगे। ज्यों ज्यों आचरण और शील को वे महत्त्व देते गये, त्यों-त्यों उन्होंने उसे त्याग दिया। बाद में जब लोगों ने तर्क किया कि पहले तो ब्राह्मण खाते थे, फिर अब क्यों नहीं खाते, तो अतीत के लिये दिव्य मर्यादा बाँध दी गई कि तब पूर्वजों में सामर्थ्य अधिक थी, वे यज्ञ से सब पवित्र कर लिया करते थे। इससे और भी स्पष्ट हो जाता है कि यह परिवर्त्तन बहुत धीरे-धीरे हुआ होगा। ऐसे परिवर्त्तन बहुत धीरे होते है।

(आ) अचानक ही कोई घटना हो जाती है और समाज मे परिवर्त्तन आ जाता है। मार्क्स के अनुसार इसे 'उछाल' (leap) कह सकते हैं। सुधारकों और विद्रोहियों के आन्दोलन इस प्रकार के परिवर्त्तन समाज में लाते हैं और हमें स्पष्ट ही वे दीख भी जाते है।

फिर भी एक बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि "सामाजिक परिवर्त्तन किसी विशेष या नियत समय पर नहीं होता।" वह तो होता रहता है या अकस्मात् होता है। जब भी परिस्थितियां ऐसी हो जाती है कि कोई नई बात आ जाती है, तब समाज के किसी रूप (aspect) में परिवर्त्तन प्रारम्भ हो जाता है।

"सामाजिक परिवर्त्तन वर्त्तमान रहन-सहन के तरीके में किसी भी प्रकार का रूपान्तर होने से प्रारम्भ होता है। वह जनसख्या की अभिवृद्धि से होता है या भौगोलिक परिवर्त्तनों से, या नये आविष्कार से, यह परिस्थिति पर निर्भर होता है।"

सामाजिक परिवर्त्तन तो सदैव होता है और भारतीय मनीषियों ने इस बात को बहुत पहले से कहा है, जिनमें बुद्ध प्रमुख हैं। परन्तु वह दार्शनिक पक्ष मे ही मग्न था। इस विषय पर सामाजिक दृष्टि से विचार करने वाले व्यक्तियों मे प्रमुख तीन व्यक्ति कहे जाते है—हर्बर्ट स्पेंसर, कॉमटे और बैन्जामिन के। इन लोगों ने इस ओर सब का ध्यान तथ्यों सहित आकर्षित किया।

सामाजिक परिवर्त्तन दो प्रकार का होता है—

(१) गत्यात्मक (Dynamic)

(२) गतिरुद्ध (Static)

(१) गत्यात्मक समाज वह होता है, जिसमें परिवर्त्तन शीघ्रता के साथ होता है।

(२) गतिरुद्ध समाज वह है जिसमें सामाजिक परिवर्तन बहुत ही धीरे होता है।

प्रत्येक देश में गत्यात्मक और गतिरुद्ध समाज वर्तमान होते हैं। एक समाज को सहज ही दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। दोनों का एक दूसरे रूप में परिवर्तन हो जाना भी आश्चर्य का विषय नहीं है। दोनों का फर्क कुछ विशेषता का ही होता है—

गतिरुद्ध समाज और गत्यात्मक समाज वास्तव में अनेक कारणों से बनते हैं।

(१) एक समाज में ही दोनों प्रकार की बातें मिल सकती हैं।

(२) एक समाज बहुत गत्यात्मक होते हुए भी किन्हीं बातों में बहुत गतिरुद्ध हो सकता है।

(३) एक से अधिक समाजों का तुलनात्मक रूप यद्यपि स्पष्ट होता है, तथापि किसी में एक और किसी में दूसरी बात अधिक गत्यात्मक और गतिरुद्ध हो सकती है।

(४) कोई समाज ऊपर से गतिरुद्ध लगकर भी वास्तव में गत्यात्मक हो सकता है।

(१) एक ही समाज में दो पीढ़ियाँ होती हैं— वृद्ध और युवक। वृद्ध गतिरुद्ध समाज के प्रतीक होते हैं और युवक गत्यात्मक। इन दोनों की भावनाएँ समाज में बनी रहती हैं।

(२) इङ्गलैंड बहुत विकसित देश है, किन्तु इतना गत्यात्मक होकर भी अपनी राज्य सम्बन्धी प्राचीन परम्पराओं में वह बहुत गतिरुद्ध है। एक ओर प्रजातन्त्र भी है, दूसरी ओर सम्राट-साम्राज्ञी भी है।

(३) सोवियत रूस बहुत गत्यात्मक है, परन्तु उसमें नये विचारों के घुसने पर रोक लगी हुई है। अतः हम इस क्षेत्र में उसे गतिरुद्ध कह सकते हैं।

(४) भारतीय समाज ऊपर से गतिरुद्ध लगता है, क्योंकि यहाँ हजारों-हजारों सालों की बातें अब भी मिल जाती हैं। परन्तु वैसे वह गत्यात्मक है। उसकी भीतरी शक्ति इतनी है कि वह मिटता नहीं। वह बदलने लगता भी है तो बहुत धीरे-धीरे, फिर भी उसमें तेजी से बदलने की क्षमता सदैव ही रहती है। बदलता वह तेजी से ही है, पर हर परिवर्तन को इतना आत्मसात करके बदलता है कि उसकी गति न कुछ के बराबर ही सी लगा करती है।

सामाजिक परिवर्तनों के प्रकारों को इसी लिये दो तरह का कहा गया है।

(१) आकस्मिक (Abrupt)

(२) क्रमिक (Slow)

(१) आकस्मिक परिवर्तन वह है जिसमें परिवर्तन अचानक होता है और बहुत शीघ्र होता है। उसके बारे में पहले से कोई कुछ नहीं जानता, जैसे कभी अकाल या महामारी या कोई घटना हो जावे जिससे सामाजिक परिवर्तन हो जाता है।

(२) क्रमिक परिवर्तन वह होता है जिसका पहले से संकेत मिलता है, जैसे भारत का स्वतन्त्र होना।

सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक विकास (evolution) में भेद होता है। सामाजिक परिवर्तन प्रगति (progress) या विकास (evolution)—इन दोनों में से किसी का भी रूप ले सकता है।

विकास का अर्थ है एक कायदे से परिवर्तन होना। (systamatic)। कुछ ऐसी सभावनाएँ होती है, कुछ ऐसी सामर्थ्य (potentialities) होती हैं जिनके उदय की आशा होती है। प्रत्येक समाज में प्रत्येक विषय में अपनी एक सामर्थ्य होती है। यदि पर्य्यावरण (environment) अनुकूल होता है, तो वे कायदे से उदय होती है और वह परिवर्तन बहुत कायदे से होता है। जब यह परिवर्तन स्पष्ट देखा जा सकता है, तब इसे सामाजिक विकास कहते हैं। जब सारी सामर्थ्य समाप्त हो जाती है, तब विकास रुक जाता है। विकास तभी हो सकता है, जब समाज में गुप्त या छिपी हुई सामर्थ्य भीतर ही भीतर विद्यमान रहती है।

सामाजिक विकास और परिवर्तन में काफी भेद होता है, जो यों है। सामाजिक विकास एक कायदे (system) से होता है। परन्तु सामाजिक परिवर्तन में कोई एक कायदा (system) नहीं होता। वह किसी भी गति (speed) से किसी भी समय (time) आ सकता है। वह आकस्मिक भी हो सकता है।

सामाजिक विकास (evolution) और सामाजिक प्रगति (progress) में भी भेद होता है। विभिन्न व्यक्तियों के स्वभाव विभिन्न प्रकार के होते हैं। जब समाज में परिवर्तन होता है, तब उसके प्रति सबकी अपनी

अपनी प्रतिक्रिया होती है। हो सकता है कि कुछ लोग उसे श्रेष्ठ समझें और कुछ उसे बुरा समझें। परिवर्तन की प्रगतिशीलता या ह्रासशीलता व्यक्ति से व्यक्ति तक पहुँचते-पहुँचते विभिन्न दृष्टिकोणों पर निर्भर करती है। जो बौद्ध के लिये अच्छा है, वह ब्राह्मण के लिये नहीं। जो इस्लाम-मत को मानने वाले के लिये अच्छा है, वह कम्युनिस्ट को नहीं।

अत प्रगति वह है जब कोई समाज किसी परिवर्तन को अपनी मनोनुकूल दिशा में अग्रसर होने के समान समझे। पहले से जिसे उच्चस्तरीय मूल्यांकन (high valuation) दे रखा हो, उसे ही वह अवतरित होते हुए देखे और उससे उसे सन्तोष हो तो वह परिवर्तन प्रगति कहला सकता है, जैसे सोवियत और चीन देशों ने यह चाहा था कि उनके यहाँ एक साम्यवादी ढाँचे की व्यवस्था हो, यह उनकी दृष्टि में बहुत बडी बात थी। उन्होंने उस परिवर्तन को पा लिया अत वह उनके लिये प्रगति हुई। किन्तु वही प्रगति अमेरिका की दृष्टि में घोरतम ह्रास (decay) बन गया। परन्तु अमेरिका उस समाज का प्रतिनिधित्व नहीं करता। सामाजिक विकास को समाज का प्रत्येक सदस्य परिलक्षित (observe) कर सकता है। परन्तु सामाजिक प्रगति (progress) को देखा नहीं जा सकता। वह तो एक मूल्यांकन है। जब समाज के व्यक्ति और सदस्य सोचने लगते हैं कि उनका समाज प्रगति कर रहा है तो वह प्रगति कहलाने लगती है। जैसे आज भारत के सब नेता तो कहते हैं कि भारत सर्वत्र प्रगति कर रहा है, परन्तु जनता नहीं कहती। वह इसे आंशिक मानती है, तो वास्तव में समाजशास्त्रीय दृष्टि से भारत की प्रगति आंशिक ही मानी जायेगी। सामाजिक प्रगति दो प्रकार की होती है—

(१) Subjective—इसमें हमें मूल्यांकन करना पडता है। इसमें बिलकुल एकमत नहीं हुआ जा सकता।

(२) Objective—इसमें मतभेद की गुन्जायश नहीं होती, जैसे चन्द्रमा की ओर स्पुत्निक का उडना।

वह सामाजिक परिवर्तन जिसके लिये प्रबन्ध किया जाये, पहले से प्रयत्न किये जायें और उसका प्रगटीकरण एकदम हो, जो बहुत दिनों से प्रतीक्षित हो, वह प्राय. टेक्नॉलॉजिकल क्षेत्रों में होते हैं, जैसे रेडियो। वह बन तो गया अचानक, किन्तु उसे बनाने के लिये प्रयत्न पहले से हो रहा था। ऐसे प्रतीक्षित परिवर्तन को हम ऊर्ध्वमुखी कह सकते हैं। लोग उसके लिये प्राय:

जो पहले से चलता रहते हैं। इस परिवर्तन के विषय में महत्त्वपूर्ण बात
उसका [illegible]।

आर्थिक क्षेत्र में परिवर्तन ऊपर उठकर फिर नीचे गिरता है—
मूल्य। पहले भाव बढ़ता है और फिर गिर जाता है। फिर वह बढ़
और फिर गिर सकता है। परन्तु इसमें ऊपर नीचे होने पर भी दिशा
निश्चित नहीं माना जा सकता।

तीसरे प्रकार के परिवर्तन चक्रीय (cyclical order) में च
है। एक के बाद एक क्रम से होता जाता है, जैसे फैशन में। इसी प्रकार
अन्तर्गत वे परिवर्तन भी आते हैं जो कि गुणात्मक (qualitative)
भौतिक (physical) होते हैं।

मनुष्य सदैव अपने को अपने पर्यावरण (environment)
अनुकूल बनाने की चेष्टा किया करता है। इसलिये पर्यावरण का सामाजि
परिवर्तन पर प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव सीधे (directly) भी पड़ सक
है, और सीधा न भी हो सकता है (indirectly)। सामाजिक परिवर्त
पर असर डालने वाली निम्नलिखित बातें होती हैं—

(१) भौतिक कारक (Physical factors)
(२) जैवशास्त्रीय कारक (Biological factors)
(३) औद्योगिकीय कारक (Technological factors)
(४) सांस्कृतिक कारक (Cultural factors)

(१) हमारे चारों ओर प्राकृतिक परिवर्तन हुआ करते हैं। तापक्रम मे
भेद पड़ जाता है। मौसम गर्म ठण्डा होता है। कभी तूफान और बाढ़ों का
सामना करना पड़ता है। कभी-कभी धरती पर पानी चढ़ जाता है तब लोगों
को वह जगह छोड़ कर अन्यत्र जाना पड़ता है। कभी-कभी बाढ़ खेतों पर
बालू डाल जाती है। तब खेती त्याग कर दूसरा काम उठाना पड़ता है। ऐसे
कारणों से समाज मे परिवर्तन आते हैं। सारा समाज ही स्वयं बदल जाता है।

(२) प्रत्येक नयी पीढ़ी भिन्न विशेषताओं (character) वाले
भिन्न (genes) प्रजननतत्त्व का परिणाम होती है। पुरुष और स्त्री के तत्त्व
सम्मिलन से हर नयी पीढ़ी का जन्म होता है। यह आवश्यक नहीं है कि हर
नयी पीढ़ी मे अपने माता पिता की ही विशेषताएँ उतर आयें। नये पर्यावरण
मे उन्हें नये ढंग से अपने को उसके अनुकूल बनाना पड़ता है। जब पर्य्यावरण

मे भेद आवेगा तो अपने आप सामाजिक परिवर्तन उसका अनुगमन करेगा। यद्यपि वंशज प्राय अपने पूर्वजों के तौर तरीके अपनाने की चेष्टा करते हैं, किन्तु उनके कुछ ढग अपने ही होते हैं। यदि किसी समाज मे जन्म अधिक हो और तेजी से जनसख्या मे अभिवृद्धि हो तो शीघ्र ही वहाँ अधिक भोजन प्राप्त करने की समस्या खडी हो जावेगी। इस समस्या के हल के लिये नये प्रयत्न होंगे और समाज मे किसी न किसी प्रकार का परिवर्तन अवश्य आयेगा।

(३) जब जनसख्या बढती है और समाज मे उलझन (complexity) आती है, तब लोगो को आवश्यकताएँ और मागें बढ जाती है। सादे (sipmle) जीवन मे इतनी वस्तुओं की आवश्यकता ही नही पडती। जहाँ कार्य्य व्यापार सादे नही होते, वहाँ समाज मे अनेक प्रकार की दुरुहताएँ प्रवेश करती है। ज्ञान बढता है। उत्सुकता भी बढती है और इसलिये ज्ञानभण्डार की वृद्धि उसे अधिकाधिक बढाती है। नयी नयी खोजे होती हैं और आविष्कार करने का प्रयत्न होता है। जब वे आविष्कार समाज मे आते हैं तब रहन सहन के तरीके मे भेद पडता है और सामाजिक परिवर्तन होता है। मशीनयुग ने समाज मे एक बहुत बडा परिवर्तन उपस्थित किया है, क्योकि उसके कारण हमारे जीवन के दृष्टिकोण ही बदल गये है। पहले खेतिहर लोग छोटे-छोटे झोपड़ो मे रहते थे और सादगी मे रहते हुए खेती करते थे। अब वे शहरो मे कारखानो मे काम करते हैं। रहन-सहन के तरीके के बदल जाने से उनके पारिवारिक सम्बन्धो मे भी परिवर्तन आया है। स्त्रियाँ और बच्चे भी यहाँ नगरो मे काम की तलाश मे जाते हैं। समाज मे इस प्रकार एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया है।

(४) सांस्कृतिक कारक इस प्रकार है। प्रत्येक नयी पीढ़ी सस्कृति की विरासत मे से चयन करती है। कुछ बातों को वह छोड देती है। जब ऐसा होता है तब सस्कृति मे परिवर्तन आता है, क्योकि सस्कृति समाज का एक भाग है, सस्कृति के साथ ही समाज भी परिवर्तित होता है।

सस्कृति दो प्रकार की होती है—पार्थिव (material) और अपार्थिव (non material) ऑग्वर्न और निमकॉफ़ का ऐसा मत है। पार्थिव सस्कृति जिसके अन्तर्गत हमारे समाज का मात्रात्मक पक्ष आता है, वह तीव्र गति से बढ़ती है। किन्तु अपार्थिव, जिसके अन्तर्गत हमारे समाज का

गुणात्मक पक्ष आता है, वह बहुत धीमी गति से अभिवृद्ध होती है। इस प्रकार पार्थिव संस्कृति तो आगे बढ़ जाती है, पर अपार्थिव पीछे घिसटती है। इस प्रकार सांस्कृतिक विलम्ब (Cultural Lag) का जन्म होता है। सगठित समाज मे इन दोनों पक्षों का सन्तुलन रहना चाहिये। जब पार्थिव पक्ष बदले तब संस्कृति के अपार्थिव पक्ष को भी परिवर्तित हो जाना चाहिये।

कुछ समाज अधिक गतिशील होते हैं। सामाजिक परिवर्तन उनमें शीघ्र परिवर्तन करते हैं। सामाजिक परिवर्तन के लिये दो बातें आवश्यक होती हैं—

(१) आविष्कार (Invention)
(२) आविष्कार को स्वीकार करना। (Acceptance of the Invention)

(१) [अ] किन्ही समाजों मे बहुत कम आविष्कार होते हैं। वे दूसरों से आविष्कार स्वीकार करने मे बहुत देर करते हैं। अपने पास होते नहीं, इसलिये सामाजिक परिवर्तन उनमें बहुत धीरे होता है।

[आ] स्वीकार कर लेने वाले तेजी से बढ़ते हैं।

(२) [अ] स्वीकार न करना ही गति मे व्याघात उत्पन्न करता है।
(आ) विलब का कारण अस्वीकृति है; जिसके पीछे रूढ़ि के प्रति आसक्ति रहती है।

नये आविष्कार के लिये तीन बातों की आवश्यकता होती है—
(१) सामग्री (Material)
(२) पहले हो चुके आविष्कार और उनकी सामर्थ्य।
(३) मांग (Demand)

प्रत्येक आविष्कार अपने आप मे अकेला नही होता। वह कई पहले आविष्कारों को अपने भीतर समेट लेता है। किन्तु आविष्कार तब ही लाभदायक होते है, जब कि लोग उन्हें स्वीकार कर लेते है। भारत में कुछ आविष्कार हुए परन्तु उन्हे स्वीकार नही किया गया। वे नहीं चल सके। पाश्चात्यो मे आविष्कार स्वीकार करने की प्रेरणा अधिक है। आविष्कार को सफलता तब होती है जब उसकी मांग होती है। कभी-कभी आविष्कार होने के बाद ही उसकी मांग पैदा होती है, जैसे एक्स-रे।

जब कोई समाज अन्य समाजो से दूर या अलग रहता है तब उसे दूसरों से सम्पर्क नही मिलता। यदि किसी प्रगतिगामी समाज से सम्पर्क नही

होता तो वह उसके नये आविष्कारों से लाभ नहीं उठा पाता। ऐसे अभाव में सामाजिक परिवर्तन भी नहीं हो पाता।

सामाजिक परिवर्तन तो तब ही संभव हो सकता है जब समाज में कोई नई बात प्रवेश करे। जब तक किसी समाज की संस्कृति में कोई नई बात नहीं आती तब तक परिवर्तन नहीं हो सकता। आविष्कार दो प्रकार के हो सकते हैं—

(१) टैक्नोलाजी संबंधी।
(२) जीवन में रहन-सहन संबंधी।

इनके स्वीकार नहीं करने से सांस्कृतिक विलम्ब जन्म लेता है। समाज में गतिरोध आता है।

आविष्कार के जनप्रिय होने के लिये, जिससे कि वह स्वीकृत हो, निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं—

(१) वह लाभदायक होना चाहिये।
(२) अधिकाधिक मानव उसका उपयोग कर सकें।
(३) वह दुरूह नहीं होना चाहिये कि उसका प्रयोग कठिन हो।
(४) उसमें खतरा नहीं होना चाहिये। जैसे वह बिजली से चलता हो, और बिजली लगने का डर रहता हो तो वह खतरे से खाली नहीं होता।
(५) वह ऐसा न हो कि काफी दिन चल न सके। उसे जल्दी ही बिगड़ नहीं जाना चाहिये।
(६) उसे मँहगा नहीं होना चाहिये।
(७) उसे इतना बड़ा और भारी नहीं होना चाहिये कि उसे यातायात के साधन ले जाने में कठिनाई अनुभव करें।
(८) उसका प्रचार होना चाहिये ताकि अधिकाधिक लोग उसके बारे में जान सकें। गाँवों तक प्रायः भारत में खबर ही नहीं पहुँचती।
(९) उसे ऐसा नहीं होना चाहिये कि वह किन्हीं पुरानी नैतिक धारणाओं को धक्का पहुँचाये जैसे कुछ दवाइयाँ ऐसी होती है, जिनमें शराब मिली होती है और भारतीय उन्हें पीते ही नहीं, भले ही उनसे लाभ पहुँचता हो।
(१०) कभी-कभी आविष्कारों से समाज में असन्तुलन हो जाता है। विभिन्न सांस्कृतिक पक्ष एक दूसरे से गुँथे रहते हैं। किसी एक में परिवर्तन होता है तो शेष भी प्रभावित होते हैं। ऐसी बात जनता के लिये अच्छी

प्रमाणित नहीं होती। यदि सामाजिक असन्तुलन हो जाता है तो यह आविष्कार भी रद्द कर दिया जाता है। जब स्त्रियों ने बाहर काम करना प्रारम्भ किया तो वह घर में उतना समय नहीं दे सकी। और इससे पारिवारिक जीवन में व्याघात पड़ने लगा। इससे लोगों ने इस प्रकार स्त्री के कमाने के लाभ जानते हुए भी उसे स्वीकार नहीं किया, क्योंकि इसमें नुकसान अधिक था।

(११) लोगों में एक प्रकार का अविश्वास सा होता है। वे नई वस्तु को स्वीकार नहीं करना चाहते। उससे उन्हें एक प्रकार की अस्पष्ट घृणा होती है। ऐसी अवस्था में आविष्कार जनप्रिय नहीं हो पाता।

सामाजिक परिवर्तन किसने प्रकार से होता है? यह होता है अन्त.प्रक्रिया (Interaction) से। जब दो व्यक्ति मिलते हैं तो उनमें सम्पर्क स्थापित होता है। जब दो समाज या दो दल मिलते हैं तब वे भी परस्पर एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं। सामाजिक प्रगति में अन्त.प्रक्रिया सबसे महत्त्वपूर्ण होती है। कोई भी प्रक्रिया तभी सामाजिक कहला सकती है जब यह समाज के किसी सदस्य द्वारा प्रारम्भ की जाती है।

अन्त.प्रक्रिया के लिये दो बातें आवश्यक हैं—

(१) सामाजिक सम्पर्क (Social contact)

(२) प्रेषणीयता (Communication)

(१) सामाजिक सम्पर्क का अर्थ है—एक दूसरे से स्पर्श जैसा सम्बन्ध होना। यह सम्पर्क सीधा और दूसरे प्रकार का भी हो सकता है। शारीरिक या अनुपस्थिति दोनों ही प्रकार का हो सकता है। जब सम्पर्क सीधा होता है तब अन्त प्रक्रिया भी सीधी ही होती है। जब दो समाजो के बीच मध्यस्थ आता है तब वह सम्पर्क सीधा नहीं रह जाता और अन्त.प्रक्रिया भी सीधी नहीं होती।

अन्त प्रक्रिया सम्भावात्मक भी हो सकती है और अभावात्मक भी।

(अ) सम्भावात्मक (Positive) सम्पर्क वह है जो कि एक दूसरे के लिये जगह करने वाली प्रमिलनात्मक (accommodative) अन्त.प्रक्रिया होती है।

(आ) अभावात्मक (Negative) सम्पर्क में वियुक्त कारक (dis-associative) अन्त प्रक्रिया होती है।

प्रेषणीयता में क्रियाओ और अन्त.प्रक्रियाओ के अर्थों की प्रक्रिया आती है।

गिलिन और गिलिन के मतानुसार सामाजिक सम्मेलन अन्त.प्रक्रियाओं पर ही निर्भर होता है। व्यक्ति और व्यक्ति तथा दल जिस प्रकार पारस्परिक व्यवहार करते हैं और अपने सम्बन्ध स्थापित करते हैं, यह बहुत महत्वपूर्ण होता है। किसी एक रहन सहन के तरीके को जब परिवर्तन छूते हैं तो समाज अपने गत्यात्मक रूप में व्यक्ति और दल दोनों के द्वारा उन परिवर्तनों से होने वाली प्रक्रियाओं को प्रगट करते हैं। सामाजिक कार्यों में सामाजिक अन्त प्रक्रियाओं का बड़ा स्थान है। सामाजिक अन्त प्रक्रियाओं के अन्तर्गत समाज के समस्त सम्बन्ध आ जाते हैं, समाज के समस्त गत्यात्मक सम्बन्ध इसमें निहित हो जाते हैं। ऐसे सम्बन्ध चाहे व्यक्तियों के बीच हों, या दलों के या व्यक्ति और दल के। कैसी भी परिस्थिति हो किन्तु अन्त प्रक्रियाएँ काम करती रहती हैं।

जब दो व्यक्ति मिलते हैं तब ही यह अन्त प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। चाहे नमस्कार हो, या वार्त्तालाप, चाहे बातें भी न हों, किन्तु वह तो तुरन्त प्रारम्भ हो जाती है, क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय उस समय सचेत रहती है और एक दूसरे से किसी न किसी प्रकार का आदान-प्रदान होता ही है। एक दूसरे पर जो छाप पड़ती है, आगे के सम्बन्ध उन्हीं पर निर्भर रहते हैं। अन्त प्रक्रिया प्रत्येक अवस्था में विद्यमान रहती है जबकि एक से अधिक व्यक्ति मिलते हैं। किन्तु अन्त प्रक्रिया निर्जीव वस्तुओं में नहीं होती। वे एक दूसरे की क्रिया प्रक्रियाओं को उत्तर प्रत्युत्तर नहीं देतीं। मौसम हमारे चाहने से नहीं बदला करता। गिलिन और गिलन के अनुसार जो सम्पर्क सीधा स्थापित होता है वह प्राथमिक (primary) है और जो किसी मध्यस्थ के द्वारा स्थापित होता है वह द्वितीयक (secondary) है। इसमें सम्पर्क सीमित होता है। इसमें दोनों पक्षों को कल्पना का सहारा अधिक लेना पड़ता है। द्वितीयक भी दो प्रकार का होता है—

(१) सीधा इसमें व्यक्ति व्यक्ति से फोन पर बातें कर सकता है। अनुपस्थित रहते हुए भी उसका सम्पर्क सीधा ही स्थापित होता है।

(२) माध्यम द्वारा इसमें व्यक्ति व्यक्ति से इश्तिहार द्वारा सम्पर्क स्थापित कर सकता है।

सामाजिक परिवर्त्तन की प्रक्रियाएँ निम्नलिखित रूपों में होती हैं —

(१) प्रमिलनात्मीकरण (Accommodation)
(२) समीपीकरण (Integration)
(३) अन्तर्भुक्ति (Assimilation)

गिलिन के मतानुसार मानवीय अन्त.प्रक्रियाओं का अध्ययन करते गम हमें दो प्रकार की सामाजिक प्रक्रियाएँ मिलती हैं—

(१) युक्तिकरण (Association)

(२) वियुक्तिकरण (Dissociation)

जो प्रक्रियाएँ युक्तकारक (associative) हैं, ऊपर गिनाई वा उन्ही के अन्तर्गत आती हैं। अब हम पहले इन पर दृष्टिपात करेंगे।

(१) प्रमिलनात्मकीकरण (Accommodation)

युक्तकारक (associative) प्रक्रियाएँ (processes) वे हैं जं विभिन्न दलों (groups) या समाजों (societies) को युक्त करती ह अर्थात् मिलाती हैं। भेदों का समानीकरण (adjustment) और द जनों का प्रमिलनात्मकीकरण कराने वाली प्रक्रियाओं को युक्तकारक प्रक्रिय कहते हैं।

समाज, दल और जन कई प्रकार के होते हैं। उनमे परस्पर भेद होना एक स्वाभाविक बात है। इनके अतिरिक्त व्यक्ति से व्यक्ति मे भी भेद होता है और वियुक्तकारक दृष्टिकोण (disassociative attitude) भी उठ खड़े होते हैं, जैसे प्रतियोगिता (competition)। जब समाज मे प्रतिद्वन्द्विता (conflict) होती है तब उससे समाज की समृद्धि को हानि पहुँचती है। इसलिये प्रमिलनात्मकीकरण आवश्यक है।

जब दो दल अपने मतभेदो को समानीकृत (adjust) कर लेते हैं, परस्पर आदान प्रदान से अपने झगडो को मिटाते हैं तब प्रमिलनात्मकीकरण हो जाता है। दोनों ही एक दूसरे मे से कुछ न कुछ अपना लेते हैं और उनमे एक दूसरे के लिये गुंजायश होती है। वे अपने मानदण्डों (Standards) और सिद्धान्तो (Principles) मे कुछ न कुछ परिवर्तन कर लेते हैं।

गिलिन के मतानुसार प्रमिलनात्मकीकरण शब्द का प्रयोग समाजशास्त्री सामाजिक सम्बन्धों के क्षेत्र में उसी जैसी प्रक्रिया के लिये प्रयुक्त करते है जैसी का वर्णन जीवशास्त्री समायोजन (adaptation) शब्द द्वारा करते हैं जिस प्रक्रिया में जीवित प्राणी अपने पर्य्यावरण मे अपने को समानीकृत (adjust) कर लेते हैं।

कुछ समाजशास्त्रियो का मत है कि प्रतिद्वद्विता, प्रतियोगिता या

प्रतिबन्धन (Contravention) से प्रमिलनात्मकीकरण जन्म लेता है, केवल प्रतिद्वंद्विता उसके लिये काफी नही है। प्रमिलनात्मकीकरण की प्रक्रिया तब आती है जब दो व्यापारी प्रतियोगिता के कारण किसी एक ठेके के लिये आपस में समझौता करके एक सी दरें देने को तैयार हो जाते हैं।

प्रमिलनात्मकीकरण दो प्रकार का होता है—

(१) समानशक्ति सम्मिलन (Co-ordinate)

(२) असमान शक्ति सम्मिलन (Super ordinate या Subordinate)

(१) समानशक्ति सम्मिलन मे दोनो दलो की शक्ति बराबर होती है। जब दोनो ही समझौता करती हैं तो प्रमिलात्मकीकरण समानशक्तिसम्मिलन कहलाता है।

(२) असमानशक्तिसम्मिलन मे दोनो दलो की शक्ति एक सी नही होती। एक जबर्दस्त (super) होती है, और दूसरी उससे निर्बल, उसके आधीनवत् (sub)। इसमें निर्बल को ही प्रमिलनात्मकीकरण करना होता है और शक्तिशाली की इच्छा के अनुसार अपना समातीकरण (adjustment) करना पड़ता है। इसका कारण भय भी हो सकता है, तथा अन्य कारण भी हो सकते हैं।

समानशक्तिसम्मिलन में प्राय (तीसरे) मध्यस्थ की आवश्यकता नही पडती। कभी-कभी पारस्परिक संघर्ष (struggle) इतना बढ जाता है कि तीसरे व्यक्ति या दल की आवश्यकता पड जाती है, पर दोनो संघर्ष करने वालो की शक्ति बराबर होती है।

असमानशक्तिसम्मिलन मे दो असमानशक्तियो में प्रतिद्वंद्विता और प्रतियोगिता होती है।

इसमें निर्बल संधि करते समय अपने लिये अधिक से अधिक सहूलियतें मंजूर करवाने की चेष्टा करता है और समय निकाल देने को शक्तिशाली की मांगो को मजबूरी में स्वीकार कर लेता है। परन्तु अधिकतर शक्तिशाली ही अपनी शर्तें पास कराता है। निर्बल का प्रयत्न उन शर्तों में कुछ नर्मी करवाता है, ताकि शीघ्र ही निर्बल फिर मुकाबिला करने के योग्य हो जाये और बराबरी का दर्जा हासिल कर ले या आगे बढ़ जाये।

दोनो ही प्रकार के प्रमिलनात्मकीकरण मे तात्कालिक परिस्थिति के

अनुसार अस्थायी समझौता (Compromise) होता है। किन्तु समझौते के समय की सी हालत ही यदि आगे भी बनी रह जाती है, तो समय फिर परिवर्त्तन कर देता है और वह प्रमिलनात्मकीकरण एक रिवाज बन जाता है और समाज में उसे मान्यता मिल जाती है, फिर उसको पलटने की ओर प्रयास नही होता। समझौते के बाद की परिस्थिति का उस समझौते पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

प्रमिलनात्मकीकरण इतने तरीको से होता है :—

(१) निर्बल दल मजबूर होकर शक्तिशाली के नीचे दब कर उसकी बात मान लेता है।

(२) समझौता (compromise)। जब दोनो दल बराबर की शक्ति रखते हैं तब वे भेदो को समझौते से मिटाने की चेष्टा करते है।

(३) पंच फैंसला (arbitration)। आपसी मतभेद मिटाने के लिये एक पच की आवश्यकता पडती है।

(४) सहिष्णुता (toleration)। प्रतिद्वद्विता असहिष्णुता के कारण उठ खड़ी होती है। प्रतिद्वद्विता की हानि देख कर दोनो पक्षो में सहिष्णुता उठ खडी होती है और दोनों प्रमिलनात्मकीकरण की ओर अग्रसर होते हैं।

(५) मत परिवर्त्तन (conversion)। एक दल दूसरे के अनुकूल बन कर अपने मत मे परिवर्त्तन कर लेता है, जैसे धर्म।

(६) न्यायीकरण (justification) या (rationalization) औचित्यीकरण। जब दोनों दल सघर्ष को देख कर अपने-अपने मत का न्यायीकरण या औचित्यीकरण प्रमाणित करके प्रमिलनात्मकीकरण की ओर अग्रसर होते हैं।

गिलिन के मतानुसार बलपूर्वक जब बात मनवाई जाती है तब वह मानसिक भी हो सकती है और शारीरिक भी। रास्ते मे किसी को सशस्त्र देखकर कोई अपना बटुआ भी दे सकता है। व्यापार मे अपने से बड़े व्यापारी को देखकर कोई डर कर भी झुक सकता है। पर इसमें कटुता बनी रह जाती है।

समझौते मे दोनों ही पक्ष एक दूसरे के सामने झुकते हैं। दोनों ही करीब करीब शक्ति मे बराबर होते हैं और दोनों ही आशा मे अधिक को अपने लिये

मांग करते हैं। दोनों ही कहीं-कहीं मुहूलियतें देते हैं। राष्ट्रों, मालिक-मजदूरों आदि में ऐसा होता है। किन्तु अन्त में सदैव एकता स्थापित हो जाती है।

पंच फैसले में अन्य व्यक्ति या दल को बीच में लाया जाता है। पर यह अन्य व्यक्ति बीच-बचाव करने वाला नहीं होता, जैसा कि भ्रम से समझा जाता है। यह पंच प्राय तब चुना जाता है जब दोनों पक्ष स्वयं समझौता करने में असफल हो जाते हैं। तब ये तीसरे को चुनते हैं कि जो यह कह देगा वही हम दोनों को मान्य होगा।

सहिष्णुता में परस्पर भेद वाले पक्ष एक दूसरे की बात को सहने की चेष्टा करते हैं। उनमें अंतिम निर्णय नहीं होता। अमेरिका में सहिष्णुता के उदाहरण के लिये हब्शियों के प्रति गोरों का दृष्टिकोण बताया जाता है, जो उन्हें नहीं चाहते पर आर्थिक कारणों से उन पर निर्भर होते हैं। भारतीय निम्न जातियों के प्रति उच्च जातियों का दृष्टिकोण भी इसमें उद्धृत किया जा सकता है।

मतपरिवर्तन में अकस्मात ही एक दल या व्यक्ति ऐसे मत को मान लेता है जिसका सांस्कृतिक प्रतिमान (cultural pattern) दूसरा ही होता है, ऐसा जैसा कि उसका अपना नहीं होता। धर्म परिवर्तन के क्षेत्र में ऐसा देखा जाता है, जैसे बहुत से बौद्ध मुसलमान हो गये थे। व्यक्तियों में ऐसा किशोरावस्था में अधिक देखा गया है। राजनीति, कला, शिक्षा, रीतिरिवाजों और अर्थशास्त्र के क्षेत्र में ऐसा पाया जाता है। यह व्यक्ति और दल दोनों पर लागू होता है।

औचित्यीकरण में व्यक्ति या दल एक विशेष व्यवहाररूप या रीति-रिवाज या ढंग को मानते रहने का औचित्यीकरण ढूंढता है।

गिलिन ने उदात्तीकरण (sublimation) को भी प्रमिलनात्मकी-करण का एक तरीका माना है।

(७) उदात्तीकरण में व्यक्ति या दल प्रतियोगिता या प्रतिद्वंद्विता की अन्य बातें आगे रखता है जिनको प्रतिपक्षीदल से थोड़ी मान्यता मिलने की आशा रहती है। मत परिवर्तन में इस प्रकार के साक्ष्य मिलते हैं।

२. समीकरण (Integration)

यदि प्रमिलनात्मकीकरण की प्रक्रिया बिना किसी बाधा के अग्रसर

होती रहती है तो समीपीकरण होता है। समीपीकरण समाज का संगठन है। कोई भी समाज पूर्णतया सगठित नही होता।

आधुनिक समाज की तुलना मे भोजन इकट्ठा करते घूमते हुए समाज मे अधिक समीपीकरण था। तब समाज में परिवर्त्तन बहुत धीरे होते थे। बाधाएँ कम होने से तब उन लोगो के जीवन में सन्तुलन अधिक था। आज के समाज मे परिवर्त्तनो के झटके लगा करते हैं और बहुधा ही परिवर्त्तन होते हैं। एक समाज मे समीपीकरण अधिक होता है तो दूसरे मे कुछ कम। तुलनात्मक रूप ही विद्यमान रहता है। समीपीकरण वाले समाज मे पारस्परिक दूरी नही रहती। समीप का अर्थ किसी बाहर के दल से समीपता नही, भीतरी बनावट की मजबूती से तात्पर्य है कि उसमे बिखराव नही होना चाहिये। यह समीपता तब होती है जब समाज का उद्देश्य एक ही होता है। सभी व्यक्तियो का एक ही लक्ष्य होता है। उसमे प्रतिद्वन्द्विता और प्रतियोगिता न्यूनतम होती है। अन्तर्भुक्ति से समीपीकरण होता है। जब दो दल या समाज अपने उद्देश्यो मे एक हो जाते हैं तब ही सहप्रयत्न से वे समीपीकरण प्राप्त करते हैं। इसमें सदृशता (similarity) का होना आवश्यक है। परन्तु इसका अर्थ यह नही कि सब ही लोग एक ही तरह से काम करना प्रारम्भ कर देंगे। बिना थोड़े बहुत भेद के कोई कार्य्य या एक लक्ष्य प्राप्त नही हो सकता। प्रश्न उद्देश्य और लक्ष्य का है। वे एक हो तो उनकी प्राप्ति के लिये भिन्न मार्ग भी पकडे जा सकते हैं। समीपीकरण वाले समाज के सदस्यो की वैयक्तिकता नगण्य होती है। इससे भी एक प्रकार से समीपीकरण वाले समाज की कार्य्यात्मकता मे सतुलन उत्पन्न होता है। यह आवश्यक नही है कि समाज के प्रत्येक रूप मे समीपीकरण हो।

गिलिन के मतानुसार समीपीकरण निम्न बातो का ऐक्य चाहता है—

(अ) रिवाज
(आ) दृष्टिकोण
(इ) सस्था
(ई) मानस-स्थिति।

इनमे स्थिरता की आवश्यकता होती है।

(१) समय-स्थिरता (consistency of time) अर्थात् एक ही व्यक्ति एक समय मे दो काम नही कर सकता।

(२) स्थान-स्थिरता (consistency of place) अर्थात् एक ही व्यक्ति दो जगह काम नही कर सकता।

(३) क्रम-स्थिरता (consistency of sequence) अर्थात् कार्य करने मे क्रम का ध्यान रखना आवश्यक है। जब तक कोई योजना नही होगी प्रतिमान अपना लक्ष्य पूर्ण नही कर सकेंगे।

(४) गुणात्मक स्थिरता (qualitative consistency) यदि गुणात्मक स्थिरता नही होगी तो सास्कृतिक विलम्ब हो सकता है। किसी सास्कृतिक तत्व को गलत भी समझा जा सकता है। उसमे परिवर्तन की भी आवश्यकता पड सकती है।

३. अन्तर्भुक्ति (Assimilation)

एक सामाजिक प्रक्रिया है जो दो सस्कृतियो या व्यक्तियो के बीच को अलग करने वाले व्यवधान को मिटा देती है। भारत मे अनेक जातियाँ आई है और यहाँ आकर घुलमिल गई है। अब दोनो मे भेद पता नही चलता। भारत मे गुजरातियो की नागा जाति है। नागा लोग फ्रास मे भी हैं। फ्रास के नागर अपने को सोथियनो की सन्तान मानते हैं। भारतीय नागर भी सीथियनो की सतान हैं। पर भारतीय नागर अब अपने को ब्राह्मण कहते हैं। इसी प्रकार का मिलन अन्तर्भुक्ति कहलाता है। भारत मे नाग, गधर्व, यक्ष, राक्षस, और अन्य जातियो की अतर्भुक्ति से ही अनेक देवी देवताओ की उपासना करने वाले हिन्दू समाज का जन्म हुआ है।

अतर्भुक्ति के लिये निम्नलिखित बातें आवश्यक है—

(१) सामाजिक सम्पर्क (social contact) सास्कृतिक आदान-प्रदान के बिना अतर्भुक्ति सम्भव नही हो सकती। अतर्भुक्ति से भेद धीरे-धीरे मिट जाते है।

(२) अन्त प्रक्रिया (interaction) का मैत्रीपूर्ण होना। इससे अंतर्भुक्ति सहज हो जाती है, अन्यथा बाधाएँ उपस्थित होती है।

(३) बधनहीनता आवश्यक है। बधन धर्म, जाति, भेद, रग, किसी के भी हो सकते है। भारत के हिन्दू, मुसलमान, हब्शी और अमरीकी, इन्गलि बहुत दिनों से पास-पास रह कर भी अतर्भुक्त नही हो सके है।

(४) अन्त प्रक्रिया सीधी होनी चाहिये। प्राथमिक सम्पर्क से बनो म अतर्भुक्ति सरलता से स्थापित होती है।

(५) अन्तः प्रक्रिया काफी दिनो तक चलती रहनी चाहिये ।

(६) यदि अन्तः प्रक्रिया बहुत दिनो तक नही चल सके तो उसे समय-समय पर जगाते रहना आवश्यक है ।

अतर्भुक्ति के लिये निम्नलिखित परिस्थितियाँ आवश्यक होती हैं—

(१) सहिष्णुता । यदि एक दूसरे को सहन करने की इच्छा नही होगी तो अतर्भुक्ति नही होगी । भारत मे शैव और वैष्णवो की पारस्परिक सहिष्णुता का फल यह हुआ कि आगे चल कर विष्णु और शिव को एक ही परमात्मा के दो रूपो के रूप मे स्वीकार कर लिया गया ।

(२) समान आर्थिक अवसर देना आवश्यक है, और उसको देते रहना चाहिये ।

(३) दोनो पक्षो मे एक दूसरे की संस्कृति के प्रति सहृदयता होनी चाहिये । अरब और यहूदी सघर्ष इसी सहृदयता के अभाव के कारण विद्यमान है ।

(४) यदि एक दूसरे के सपर्क मे आने वाली सस्कृतियाँ समान और सदृश है तो अतर्भुक्ति सहज होती है । सीधे-सीधे ही अन्तर्भुक्ति हो जाती है ।

(५) बार-बार आपसी मिलन आवश्यक है । अतमिश्रण से अतर्भुक्ति को सहायता मिलती है ।

अतर्भुक्ति को प्रमिलनात्मकीकरण निम्नलिखित रूप से सहायता देता है—

(१) प्रमिलनात्मकीकरण प्रतिद्वद्विता, प्रतिबधन और प्रतियोगिता की फूट डालने वाली क्रियाओं को रोक देता है । उससे सामाजिक एकता का हित सिद्ध होता है ।

(२) प्रतियोगिता मे प्रतियोगियो मे प्रमिलनात्मकीकरण बहुत सा शक्ति और वस्तु क्षय बचा देता है, क्योकि श्रमविभाजन ठीक होता है और मिल कर काम हो जाता है ।

(३) विरोध-नाश । एक दल के स्वार्थ के लिये प्रायः ही प्रतियोगिता को प्रमिलनात्मकीकरण रोक देता है भले ही दूसरे की हानि हो जाये, किन्तु अन्ततोगत्वा हानि सहने वाले के लिये प्रथम दल को झुकना पड़ता है । जैसे व्यापारी मिलकर मूल्य बढ़ाते हैं, पर बाद मे उन्हे मूल्य घटाकर ही बेचना पड़ता है ।

(४) विविध व्यक्तित्वो को समानशक्ति-सम्मिलन भी प्रमिलनात्मकी-करण के कारण होता है क्योकि सामाजिक श्रमविभाजन के माध्यम से सघर्षरत

व्यक्तिगत दलों में बँट जाते है। पराजित विरोधी को स्वीकार कर लेना इसी में अन्तर्गत आता है, जिससे वैमनस्य दूर होता है।

(४) नयी परिस्थिति में संस्थाओं में परिवर्तन करके नयी अनुकूलता लाना भी प्रमिलनात्मकीकरण द्वारा होता है। जिस प्रकार पहले ब्राह्मण-शासक होते थे, पर बाद में क्षत्रिय होने लगे तब ब्राह्मणों ने धर्मशास्त्र सँभाल लिये।

(६) पद का परिवर्तन प्रतिद्वंद्विता, प्रतिबंधन और प्रतियोगिता से कोई स्थापित पद विच्छिन्न किया जाता है। प्रमिलनात्मकीकरण व्यक्ति या दल के पद को फिर से स्थापित करता है।

अतर्भुक्ति के लिये तैयारी इन्हीं कारणों से होती है। अतर्भुक्ति एक आगे बढ़ी हुई सामाजिक प्रक्रिया है। इसमें भेदभाव का कोई स्थान नहीं होता और यह केवल मुक्त हृदय से ही हो सकती है। इसमें दुराव रखने वाली अत प्रक्रियाएँ नहीं आ सकतीं।

अतर्भुक्ति में व्याघात डालने वाली निम्नलिखित बातें है—

(१) गर्व, अपने को ऊँचा समझना।
(२) हीनत्व की भावना से विरोध करना।
(३) रंगभेद अधिक होना।
(४) एक का दूसरे पर अत्याचार करना।
(५) एकांत में संकुचित बने रहने की प्रवृत्ति रखना।
(६) दो मतों में मूलभूत भेद होना। सैद्धान्तिक जड़ता इसमें बाधक है।

अतर्भुक्ति केवल सामाजिक प्रक्रिया नहीं है। गिलिन के मतानुसार—

(१) वह सामाजिक संबंधों में क्रियात्मक एकता लाती है।
(२) वह एक-मन करती है।

(३) सांस्कृतिक प्रतिमानों में भी वह परिवर्तन प्रस्तुत करती है। यह सांस्कृतिक प्रक्रिया ही सांस्कृतिक अनुकूलन कहलाती है।

सांस्कृतिक अनुकूलन में मानसिक परिवर्तन होता है और उसमें व्यक्ति या दल अपने को दूसरी संस्कृति के अनुकूल बनाने की चेष्टा करता है।

अतर्भुक्ति में वह कभी कम और कभी अधिक हो सकता है। जब वह कम होता है तब पारस्परिक रूप से दो संस्कृतियों के लोग एक दूसरे को समझने की चेष्टा करते है। इसमें नये रिवाजों का प्रतिमान नहीं आता। दो

पक्ष साथ-साथ बढ़ते हैं, और एक दूसरे की विशेषता को आत्मसात करते हुए अन्त में एक हो जाते हैं।

जब दो प्रकार के प्रतिमान रिवाजों मे भी आते हैं तो संस्कृतियों में भी परिवर्त्तन होता है। जितना अधिक भेद होता है, अंतर्भुक्ति में भी उतना ही विलब होता है। परिवर्त्तन की प्रक्रिया इस अवस्था मे बहुत धीमी होती है।

सास्कृतिक अनुकूलन निम्नलिखित प्रकारों का होता है—

(१) एक संस्कृति धीरे-धीरे लुप्त हो जाती है और काफी दिनो के सपर्क से दूसरी सस्कृति की बहुत सी बाते ले लेती है। जैसे अमेरिका में पुराने रेड इण्डियनो ने यूरोप से पहुँचे लोगों की सस्कृति को अपना लिया है।

(२) कभी-कभी यह एक ही देश मे होता है। जब एक संस्कृति बहुत सशक्त होती है तो वह गहरा प्रभाव डालती है। परन्तु जब सस्कृतियो का मिलन होता है तब दोनों ही एक दूसरे से प्रभावित होती हैं।

(३) सस्कृतियाँ एक दूसरो मे घुल जाती हैं और वे नया रूप धारण कर लेती हैं।

(४) कभी-कभी एक सस्कृति में से दूसरी सस्कृति में कोई वस्तु या प्रतिमान जाता है और दूसरे का अग बन जाता है, जैसे तम्बाकू अमेरिका से आई पर भारत मे हुक्का पानी मे शामिल हो गई।

(५) कभी-कभी एक सस्कृति से दूसरी सस्कृति में कोई वस्तु पहुँचकर अपनी बन जाती है और मूल रूप कहाँ से आया था, यह भी स्मरण नही रहता—जैसे आर्य्यों मे आई आदिवासियो की तुलसी पूजा। अब तुलसी पूजा का मूलस्रोत भी पता नही चलता।

सांस्कृतिक अनुकूलन की अवस्था प्रमिलनात्मकीकरण और अतर्भुक्ति के बीच की है।

नयी सस्कृति के सपर्क मे आकर व्यक्ति कभी-कभी अप्रसन्न होता है। पहले से सम्पर्क मे रहने वाली सस्कृतियाँ भी नये को पसद नही करती। यदि नयी बातें ठीक से अनुकूल नही पडती तो उनका रूप बदल लिया जाता है। कुछ समय के लिये समाज मे विघटन रहता है। नये आने वाले कम होते हैं। जीवनयापन करने को उन्हे अधिक जनसख्या वाले मूल निवासियो से तुरन्त प्रमिलनात्मकीकरण करना पडता है, क्योकि उन्हें इसकी आवश्यकता होती है। पद (status) प्राप्त करने के लिये भी उन्हे ऐसा करना पड़ता है।

नयी सस्कृति के प्रभावो से पुराने ढाचे में भी पुराने लोगो के सवंध बदलते हैं। अगरेजो के प्रभाव से भारत की जातियो ने सिर उठाया और समाज मे परिवर्त्तन आया है।

समाज मे अयुक्तीकरण की प्रक्रिया भी चलती रहती है। यह तीन प्रकार का होता है—

(१) प्रतियोगिता (Competition)

(२) प्रतिद्वंद्विता (Conflict)

(३) प्रतिबधन (Contravention)

जब दो या अधिक व्यक्ति एक ही सीमित लक्ष्य की ओर जाते हैं, कि सब उसमे भाग न ले सकें प्रतियोगिता होती है। प्रतियोगिता करने वाले एक दूसरे को जाने यह आवश्यक नही है। ऐसे मे ये लक्ष्य प्राप्ति पर ध्यान केन्द्रित करते है, एक दूसरे को हानि नही पहुँचाते। प्रतियोगिता निरन्तर समाज मे बनी रहती है। यह प्रत्येक समाज मे जीवन के विभिन्न क्षेत्रों मे मिलती है। व्यक्तिगत प्रतियोगिता तब होती है जब प्रतियोगिता करने वालों मे सम्पर्क रहता है।

सामाजिक और सास्कृतिक मूल्यो का प्रतियोगिता पर प्रभाव पडता है। दल की सरचना का भी प्रभाव पडता है। जिस समाज मे मुक्ति अधिक होती है वहाँ प्रतियोगिता भी स्वस्थ होती है। प्राय प्रतियोगिता से समाज को लाभ होता है परन्तु उसकी व्यक्ति-सापेक्षता मे ईर्ष्या जन्म लेती है।

जब प्रतियोगिता व्यक्तियो मे सीमित होती है और सचेत बन बीच मे आता है तब उसे प्रतिद्वंद्विता कहते है। इस प्रक्रिया मे व्यक्ति या दल चुनौती देकर हिंसात्मक तरीके से अपना लक्ष्य लेना चाहते है। वैयक्तिक भेद—शारीरिक, मानसिक या दार्शनिक परिवर्तन, या मूल्यो के अकन का भेद, इस को जन्म देते है। सास्कृतिक भेद भी इसके लिये उत्तरदायी होते है। जब स्वार्थ टकराते है तब पति पत्नी तक मे द्वन्द्व होता है। सामाजिक परिवर्तन मे भी तू-तू मैं-मैं इसका आधार बनती है। इसका परिणाम सामाजिक विघटन होता है। पर यह कभी-कभी समन्वयात्मकता की ओर भी ले जाता है। प्रतिबधन भी समाज मे अयुक्तीकरण की ओर खींचता है।

उपसंहार

अपराध समाज में आज भी होते हैं और आदिम काल में भी होते थे। दण्डशास्त्रकों ने अपराधी के दो व्यक्तित्व बताये हैं। एक वह जिसमें कि वह अपराध करता है, और दूसरा वह जिसमें कि वह उसका औचित्यीकरण करता है। कोई भी व्यक्ति पूर्ण अपराधी नहीं होता। मनुष्य अपराध करता ही क्यों है? भारतीय चिन्तन तो यह कहता है कि जब विष्णु की नाभि से ब्रह्मा का जन्म हुआ मधुकैटभ उन्हें मारने दौड़े। इस कथानुसार सृष्टि के आदि में ही हिंसा थी। यह तो एक पुराण कथा है, परन्तु इसमें हिंसा का पुरानापन प्रगट होता है। हिंसा प्रारम्भ में अधिक थी अब कम है। इन्द्र ने वृष्णासुर की स्त्री के गर्भ के बच्चे को भी काटा था। परन्तु बाद में स्त्री पर हाथ उठाना भी अपराध माना गया। समाज के भीतर और बाहर होते परिवर्तन ने मनुष्य को अपने नियम बनाने को बाध्य किया। वस्तुतः अपराध समाज में होता है। व्यक्ति और समाज की टकराहट ही अपराध को जन्म देती है। अपराध दो तरह के हैं। जो परमात्मा के विरुद्ध हैं पाप हैं (sin) और जो मनुष्य के विरुद्ध हैं वे अपराध हैं (crime)। पाप और अपराध दोनों का ही आधार नैतिकता के बन्धन हैं। जब व्यक्ति किन्हीं कारणों से असतुलित हो जाता है तब वह अपराध करता है। अपराध युगान्तर तक क्यो रहा है? क्योंकि व्यक्ति अभी तक ऐसा समाज नही पा सका है जिसमे उसका पूर्ण सतुलन बना रह सके। अपराध की पुनरावृत्ति का कारण है समाज मे नियमों और व्यवस्था का धीरे-धीरे बदलना। हमारे सास्कृतिक मानदण्ड बहुत से पापो और अपराधो को उच्चता के नाम पर उभाडते हैं, जिनसे मनुष्य मे अविश्वास जन्म लेता है।

प्रत्येक मनुष्य एक से अपराध नही करता। प्राचीन काल मे समाज की मूलाधार-भावनाओ की रक्षा के लिये नैतिकता को धर्म के आधीन किया गया था। धर्म ने मनुष्यों के पापों और अपराधों की प्रवृत्ति को नरक के भय

विशेष मर्यादा की रक्षा देखते हैं जो कि वर्ण-व्यवस्था पर जीवित थी। रामायण और महाभारत ने दण्ड को अराजकता से रक्षा के लिये स्वीकार किया था। दण्ड की नैतिकता युगांतर में बदलती रही है। महाभारत काल में दासी को नगा करने वाला दुःशासन नियमों के अनुसार दण्डनीय नही था। उसको उस समय दण्ड देना धर्म विरुद्ध था इसीलिये युधिष्ठिर ने विरोध नहीं किया। परन्तु चाणक्य के समय में दासी को नगा करना दण्डनीय हो गया था। सामंतीय व्यवस्था के कानून पूँजीवादी व्यवस्था ने बदल दिये। वर्गहीन समाज की कल्पना दण्ड को उन पर रखती है, जो आज दण्ड के विधायक हैं। वास्तविक सत्य यह है कि मनुष्य मूलतः अपराधी नहीं है, वह परिस्थितिवश ऐसा करता है। प्राय: अपराधी वे बनते हैं जो पशुबल को ही प्रकारांतर से स्वीकार करते हैं। समाज में किसी बात को किसी समय अच्छा समझा जाना आवश्यक नही है कि सदैव उसी मानदण्ड पर आधारित रहेगा। रिश्वत, बेईमानी, न्यायालय मे पक्षपात, व्यक्ति से व्यक्ति का भेद, आदि अनेक कारण हैं जो कि व्यक्ति को अपराधी बनाते हैं। पर अपराध की मनोवृत्ति वहाँ से आती है? अधिकार के रूप से। हमारा कोई राज्य आज तक कोई तय नही रहा है। राज्य के रूप और अपराध मे गहरा सम्बन्ध रहा है। राज्य ने तात्या जैसे वीर को भी अपराधी घोषित किया था। राज्य सगठित पशुबल पर आधारित होता है और पशुबल जब व्यक्ति मे आता है तब अपराधी का जन्म होता है। सामाजिक हिंसा और हत्या-परकता का व्यक्ति रूप मे प्रस्फुटन ही अपराध है।

भारतीय विचारको ने मनुष्य के अपराध करने की भावना को पकडने की चेष्टा की थी। अपराध करके छिपाया जा सकता है समाज से, किन्तु क्या वह ईश्वर से भी छिपाया जा सकता है? नैतिकता के इस प्रश्न को अत.करण के सामने रखा गया। पुनर्जन्म का सिद्धान्त आया और उसने अपराध को पाप का नाम दिया। उससे अगले जन्म मे पाप का बुरा फल दिखाया गया और लोक मे अपराध को रोकने की चेष्टा की गई किन्तु कर्म यदि व्यक्ति के विवेक के आधीन रखा गया जो समय के विषम नियमो को मनीषी नही बदल सके। पश्चिम मे आज भी अपराध अधिक है। इसका कारण वहाँ ा की प्राचीन परम्परा का अभाव है। अपराध-शास्त्रियों ने आँकड़ो से कया है कि जिन देशों मे साम्यवाद है, वहाँ अपराध तुलनात्मक रूप मे है। किन्तु वहाँ भी यह है अवश्य। सामाजिक व्यवस्था के परिवर्तन ने हुत से अपराधों को व्यर्थ कर दिया है। जितने अधिक बधन लगाये जायेंगे

विशेष मर्यादा की रक्षा देखते हैं जो कि वर्ण-व्यवस्था पर जीवित थी। रामायण और महाभारत ने दण्ड को अराजकता से रक्षा के लिये स्वीकार किया था। दण्ड की नैतिकता युगांतर में बदलती रही है। महाभारत काल में दासी को नंगा करने वाला दुःशासन नियमों के अनुसार दण्डनीय नहीं था। उसको उस समय दण्ड देना धर्म विरुद्ध था इसीलिये युधिष्ठिर ने विरोध नहीं किया। परन्तु चाणक्य के समय में दासी को नंगा करना दण्डनीय हो गया था। सामंतीय व्यवस्था के कानून पूँजीवादी व्यवस्था ने बदल दिये। वर्गहीन समाज की कल्पना दण्ड को उन पर रखती है, जो आज दण्ड के विधायक हैं। वास्तविक सत्य यह है कि मनुष्य मूलतः अपराधी नहीं है, वह परिस्थितिवश ऐसा करता है। प्रायः अपराधी वे बनते हैं जो पशुबल को ही प्रकारांतर से स्वीकार करते हैं। समाज में किसी बात को किसी समय अच्छा समझा जाना आवश्यक नहीं है कि सदैव उसी मानदण्ड पर आधारित रहेगा। रिश्वत, बेईमानी, न्यायालय में पक्षपात, व्यक्ति से व्यक्ति का भेद, आदि अनेक कारण हैं जो कि व्यक्ति को अपराधी बनाते हैं। पर अपराध की मनोवृत्ति कहाँ से आती है? अधिकार के रूप से। हमारा कोई राज्य आज तक कोई तय नहीं रहा है। राज्य के रूप और अपराध में गहरा सम्बन्ध रहा है। राज्य ने तात्या जैसे वीर को भी अपराधी घोषित किया था। राज्य संगठित पशुबल पर आधारित होता है और पशुबल जब व्यक्ति में आता है तब अपराधी का जन्म होता है। सामाजिक हिंसा और हत्या-परकता का व्यक्ति रूप में प्रस्फुटन ही अपराध है।

भारतीय विचारकों ने मनुष्य के अपराध करने की भावना को पकड़ने की चेष्टा की थी। अपराध करके छिपाया जा सकता है समाज से, किन्तु क्या यह ईश्वर से भी छिपाया जा सकता है? नैतिकता के इस प्रश्न को अन्तःकरण के सामने रखा गया। पुनर्जन्म का सिद्धान्त आया और उसने अपराध को पाप का नाम दिया। उसमें अगले जन्म में पाप का बुरा फल दिखाया गया और लोक में अपराध को रोकने की चेष्टा की गई किन्तु धर्म यदि व्यक्ति के विवेक के आधीन रखा गया जो समय के विषम नियमों को पसीजी नहीं बदल सके। पश्चिम में आज भी अपराध अधिक है। इसका कारण वहाँ नैतिकता की प्राचीन परम्परा का अभाव है। अपराध शास्त्रियों ने आँकड़ों से सिद्ध किया है कि जिन देशों में मद्यपान है, वहाँ अपराध [illegible] कम है। किन्तु वहाँ भी वह है अवश्य। सामाजिक व्यवस्था के परिवर्तन ने बहुत से अपराधों को व्यर्थ कर दिया है। जिनसे अधिक [illegible]

और न्याय के मूर्तिरूपों नहीं दी जायेगी उतने ही अपराध भी बढ़ते जायेंगे। न्याय की व्यवस्था व कर्ता-धर्ता लोग भी थोड़े बहुत अपराध इसलिये कर बैठते हैं कि इससे उनकी बहुत सी स्वार्थ परिस्थितियाँ मिट जाती हैं। अपराध तब बढ़ता है जब सदसद्व्यवहार से नुकसान होता है और बेईमानी फलती-फूलती नजर आती है। यह उसका सामाजिक पक्ष है।

हमारी दण्डव्यवस्थाएँ वास्तव में बहुत प्राचीन हैं। उनका क्रमश विकास हुआ है। दार्शनिक पक्ष में बहुत ऊँची उड़ान भरने पर भी हमारे यहाँ व्यवहार में दण्ड इतना 'कोमल' नहीं था, जितना नये युग में वह बन गया है। परन्तु इतना 'कोमल' वह वास्तव में है नहीं, जितना उसका प्रचार है। इस प्रकार की व्यवस्था में हम न्याय से स्वयं डरते हैं। दण्ड राज्य पर निर्भर है, किन्तु अपराध करना हमारी व्यवस्था और नैतिकता पर निर्भर है। अपराध पहले भी होते थे, किन्तु तब की नैतिकता काफी अंश तक व्यक्ति को डराती थी।

आदिम समाज में अपराध के लिये स्थान नहीं था। अपराध वहाँ व्यक्ति के प्रति न होकर समाज के प्रति था। उस समय समाज और व्यक्ति अलग-अलग नहीं थे। जब व्यक्ति और समाज में वैमनस्य बढ़ा तब से अपराध बढ़ते गये। अपराध आज बहुत अधिक हैं, क्योंकि व्यक्ति का स्वार्थ जगह-जगह समाज की व्यवस्था से टकराता है।

क्या समाजवादी व्यवस्था में अपराध नहीं होते ? होते हैं। किंतु उनका रूप परिवर्तित हो गया है। यह भी सत्य है कि उस व्यवस्था में तुलनात्मक कारणों से अपराध कम हैं। धन के कारण आज बहुत से अपराध समाज में प्रचलित हैं। परन्तु धन अपराध का मूल कारण नहीं है। धन उसकी एक अभिव्यक्ति है। आज के समाज में क्योंकि धन को अधिकार का माध्यम बनाया गया है, मनुष्य उसी की ओर दौड़ते हैं।

अपराध का न्याय करने वालों के स्वार्थ से सीधा सम्बन्ध होता है। बहुत से अपराध तो वास्तव में अपराध होते ही नहीं। राजनैतिक सत्ता को स्वायत्त करने के प्रयत्न इसी श्रेणी के अंतर्गत आते हैं।

हम ऊपर कह आये हैं कि मनुष्य और मनुष्य में वैयक्तिक भेद होता है। सत रज तम के अनुसार भारतीय मनीषियों ने मनुष्यों में गुणभेद किया है। इस भेद के कारण सब मनुष्यों में जहाँ बहुत सी बातों में साधारणीकरण होता है, वहाँ किन्हीं बातों में व्यक्ति-वैचित्र्यवाद भी होता है। उसके कारण भी अपराध बनते हैं।

BIBLIOGRAPHY

Social Problems and Disorganization

Adler, Herman M , and Worthington, Myrtle R. The Scope of the Problem of Delinquency and Crime as related to Mental Deficiency, 1925.

Adler, A. : Social Interest · A Challenge to Mankind, Allen and Unwin, London, 1912.

Adler, A : What life should mean to you, Allen and Unwin, London, 1942.

Agnihotri, V. : The Fallen Woman, 1957

Ahmed, M. : Present Day Problems of Indian Education, The Author, Bombay, 1935.

Angell, Robert : The Family Encounters the Depression, 1936.

Baker, R. E. : Marriage and Family, 1939.

Banerjee, G. R. : Sex Delinquent Women, 1948

Bacon, Selden D. . Alchoholism · Nature of the Problem, Federal Probation 1947.

Berry, R J. and Gordon, R. G. . The Mental Defective, Kegan Paul, London, 1931.

Blunt, E. : Social Service in India, 1939

Bostard, J. H. S. : Social Change and Social Problems.

Brown, L. C : Social Pathology—Personal and Social Disorganization, 1948.

Bunsel, Bessie . Suicide, Encyclopaedia of the Social Science, The Macmillan Company, New York, 1931

Burgess, Ernest W. and Locke, Harvey J · The Family, American Book Company, New York, 1945.

Burgess, Ernest W. . The Romantic Impulse and Family Disorganization, Survey Graphic, 1926.

Burgess, Ernest W. and Cattrell, Leonard S Jr Predicting Success or Failure in Marriage, Prentice Hall, Inc New York

t, Law breaker George

Cannon, A. and Hayes, E. : The Principles and Practice of Psychiatry, London, 1939.

Carr-Saunders, A. M. Mannheim, H. and Rhodes, E. C. Young Offenders, Cambridge University Press, 1912.

Cavan, R. S. : Suicide, The University of Chicago Press Chicago, 1927.

Cavan, R. S., and Ranck, Katherine H. : The Family and the Depression, University of Chicago Press, Chicago, 1938.

Colcord, Joanna. : Broken Homes, The Russell Sage Foundation, New York, 1919.

Cooley, C. H. : Social Organization, 1909.

Cooley, C. H. : Social Process, 1922.

Cooley, C. H. : Human Nature and Social Order, 1922.

Clifford, Manshadt. : The Child in India, 1937.

Cousins. M. E. : Indian Womanhood Today, 1947.

Cuber, John F. and Harper, Robert A. : Problems of American Society, Henry Holt and Company, New York, 1948.

Dastur, H. P. : Alcohol : Its Use and Disuse. Taraporevala, 1940.

Davies, Stanley P. : Social Control of the Mentally Deficient, Thomas Y. Crowell Company, New York, 1930.

Desh Pande, D. Y. : Woman, Family and Socialism, 1948.

Dewey, J. and Dewey, E. : Schools of Tomorrow, Dent, London.

Doll, Edgar A. : Feeble-Mindedness Versus Intellectual Retardation, American Journal of Mental Deficiency, 1947.

Dublin, Louis I. To be or not to be, New York, 1933.

Durkheim, Emile, : Le Suicide, Felix Alcan, Paris, 1897.

East, W. N. : The Adolescent Criminal, Churchill, London, 1942.

Eliot, Thomas D. : Handling Family Strains and Shocks, 1948.

Elliott, N. A. and Nerrill, F. E. : Social Disorganization, 1950.

Elliott, Mabel A. : Correctional Education and the Delinquent Girl, 1929.

Ellis, H. : Studies in the Psychology of Sex, Vol. VII. F. A. Davis, Philadelphia, 1928.

Emerson, H. : Alcohol and Man, 1932.

Eubard E. E : A Study of Family Desertation.

Faris, R. E. L. : Social Disorganisation, 1948.

Forde J : Social Deviation, 1939.

Folsom, Joseph K. : The Family and Democratic Society, 1947.

Frank, Lawrence K. : Society as the Patient, Rutgers University Press, New Brunswick, 1948.

Freud S. : *General Introduction to Psychoanalysis*, Allen and Unwin, London, 1922.

Gandhi, M. K. · Woman and Social Justice, 1954

Grant, J. S · Health of India, 1943

Gillin, J L Social Pathology, Century Co , N Y , 1933.

Gillin and Gillin Cultural Sociology.

Glover, E R Psycho-Pathology of Prostitution, 1945

Glueck, Sheldon and Henor T Five Hundred Delinquent Women, 1934

Goldberg, Rosamand and Jacob, Girls on City Street, 1935

Goddard, Henry, H The Kallikak Family, The Macmillan Co New York, 1912

Hall, G. Stanley, Adolescence, Appleton-Century, New York, 1904

Hall, J Theft, Law and Society

Harris, Louis Love, Marriage, and Divorce in History and Law, 1930.

Half, G. M · Prostitution, A Survey and a Challenge, 1943.

Hayward, F. H and Freeman, A . The Spiritual Foundations of Reconstruction, P. S King, London, 1919.

Heller, J. R. . The Social *Control of Veneral* Disease, 1948.

Herman, Abbott P. An Approach to Social Problems, Ginn & Co, Boston, 1949.

Heawood, G. L. · Religion and School, *Student's* Christian Movement Press, London, 1939.

Healy and Bronner Delinquents and Criminals, their making and unmaking (New York).

Hill, Reuban : Families under Stress, Harber and Bros New York, 1949.

Hirschfield, M. : Men and Women—*The World journey* of a Sexologist, 1935.

Hollingworth, Leta S. : The Psychology of the Adolescent. Appleton Century, 1928.

Huxley, A. : Ends and Means, Chatto and Windus, London, 1937.

Hunt, James Mcv. (ed) : Personality and the Behaviour Disorders (2 Vols.), 1911.

Jung, C. G. : Modern Man in Search of a Soul, Kegan Paul, London, 1911.

Kellan, Horace M. : Consensus, Encyclopaedia of the Social Sciences, Macmillan Co. New York, 1933.

Kapadia, K. M. . Marriage and Family in India, 1958.

Karpman, Benjamin : The Alcoholic Woman, The Linacre Press, Washington, 1948.

Kramer, Ralph : The Conceptual Status of Social Disorganization, American Journal of Sociology, Jan. 1943.

Kumarappa, J. M. (Ed.) : Our Beggar Problem, 1945.

Lam Nithan, J. Woman in India, 1951.

Landis, Paul H. : Social Policies in the Making, Health & Co. Boston, 1947.

La Piere, T. : Collective Behaviour, McGraw Hill Book Co. N. Y. 1938.

Lemert. : Social Pathology, Mc-Graw Hill Book Co. 1951.

Linder, R. M. and Seliger, R. V. · Handbook of Correctional Psychology-Philosophical Library, N. Y., 1947.

Lynd, Roberts. : Knowledge for what ?, Princeton University Press, 1939.

Mackenzie, J. S. : Outline of Social Philosophy, Allen and Unwin, London, 1918.

Mannheim, K. : Man and Society, Kegan Paul, London, 1940.

Malinowski . Crime and Custom in Primitive Society.

Matthew, A. : The Child and His Upbringing, Seshachalam, Masulipatam, 1943.

Maurois, A. : The Art of Living, Taraporevala, Bombay, 1944.

Mc-Dougall, W. M. : The Group Mind, Cambridge University Press, 1921.

Mc Dougall. W. M. : Character and the Conduct of Life. Methuen, London, 1908.

Mead, George Herbert . Mind, Self and Society from the Standpoint of a Social Behaviorist, 1934.

Mead, Margaret : Coming of Age in Samoa, William Morrow and Co , New York, 1928.

Mehta, R. : Pre-Buddhist India, Examiner Press, Bombay, 1939

Mensinger, Karl A. : Man against Himself, 1938.

Mercier, C. A. : Conduct and its Disorders, Macmillan, London, 1911.

Merrill, F. C. : Courtship and Marriage, 1949.

Merrill, F. E. : Social Problems on the Home Front, Harper & Bros. N. Y., 1948.

Mill, J. S. : On Liberty, Watts, London, 1859

Montessori, M. : The Secret of Childhood, Longmans Green, London, 1941.

Morselli, H : Suicide, Appleton Century, New York, 1882.

Mowrer, E. R. : Family Disorganisation, University of Chicago Press, 1939.

Mowrer, Harriet R. . Discords in Marriage, 1948.

Mowrer, Harriet R. : Personality Adjustment and Domestic Discord, 1935.

Mohr, Jennie. : Home making Problems of Working Women, 1948.

Mustenberg, H. . The Eternal Values, Constable, London, 1909.

Mukerjee, R. K : Social Disorganisation in India, 1936.

Naik, P. G .: Prostitution under Religious Customs, 1928.

North, C. C. : Social Problems and Social Planning

Ogburn, W. F. : Social Change, 1922

Pearl, Raymond. : Alcohol : Biological Aspects, Encyclopaedia of the Social Sciences, 1930.

Phelps, Harold A. · Contemporary Social Problems, Prentice Hall, New York, 1947.

Queen, S. A , Bodenhafer, W. B and Harper, E. B. Social Organisation & Disorganization, 1935.

Ranson, C. : A city in Transition, The Christian Literature Society for India, Madras, 1938.

Rao, B. Shiva : The Industrial Worker in India, 1939.
Ralph, C. H. (Ed.). : Woman of the Streets.
Reckless, Walter C. : Prostitution in the United States, 1947.
Russell, B. : Education and the Social Order, Allen and Unwin, London, 1933.
Russel, B. : Roads to Freedom, Allen and Unwin, London, 1918.
Scheinfeld, A. : You and Heredity, Chatto and Windus, London, 1939.
Schiff, L. M. : The Present Condition of India, Quality Press, London, 1939
Schmid, Calvin F. : Suicides in Seattle, 1914 to 1925. University of Washington Press, 1928.
Sen Gupta, N. N. : Heredity in Mental Traits, Macmillan, Calcutta, 1941.
Sherif, Muzafer, and Cantril, Hadley. : The Psychology of Ego-Involuements, 1947.
Singh, M. · The Depressed Classes, 1947.
Symonds, Percival M. : The Psychology of Parent-child Relationships, 1939.
Thomas, William I.,and Znaniecki, Plorian. : The Polish Peasant in Europe and America IInd Vol., Alfred A. Knopf, New York, 1927.
Thom, Douglas A. : Normal Youth and its Every day Problems. Appleten Century, New York, 1932.
Terman, Lewis M. : Psychological Factors in Marital Happiness McGraw Hill Book Company, New York, 1938.
Waller, Willard. : The Family . A Dynamic Interpretation. The Dryden Press, New York, 1938.
Wells, H. G., Huxley, J. and Wells G. P. : The Science of Life, Cassell, London, 1931.
Wile, I. S. : The Sex Life of the Unmarried Adult, 1934.
Woolston, H. B. : Prostitution in the U. S. A., 1921.
Young, Kimball. : Personality and Problems of Adjustment, Appleton Century, 1940.
Kimball. : A Handbook of Social Psychology.
an, Carle C. . Family and Civilization, Harper and ers, New York, 1947.